श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-विरचित-षोडश-ग्रन्थान्तर्गता-दशमी

चतुःश्लोकी ।

(समस्त सात संस्कृत टीकाओं के हिंदी-अनुवाद एवं

मध्या

टीका सहित)

: संपादक व लेखक :

गोस्वामी राजकुमार

: प्रकाशक :

गोस्वामी राजकुमार नृत्यगोपालजी

चरणाट, बंगला नं. ५, ठाकुर विलेज, ठाकुर डिग्री कॉलेज के सामने,
कांदिवली (पूर्व), मुंबई - ४०० १०१. • दूरभाष : ८८४ ६५०६

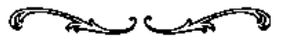
प्र.सं. : वि.सं. २०५९

प्रति : ५००

श्रीमद्वल्लभाचार्य-महाप्रभु-विरचित-षोडशग्रन्थान्तर्गता-दशमी

चतुःश्लोकी।

अनुक्रमणिका



क्रमांक	टीकाकार	पृष्ठसंख्या
१.	श्रीव्रजराजानाम्	२
२.	श्रीवल्लभानाम्	१३
३.	केषाञ्चित्	१७
४.	श्रीमथुरानाथानाम्	२१
५.	श्रीकृष्णरायभट्टानाम्	४४
६.	श्रीनाथभट्टानाम्	५०
७.	श्रीद्वारकेशानाम्	५५



श्रीकृष्णाय नमः ।

चतुःश्लोकी ।

श्रीमदाचार्यप्रकटिता ।



सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः ।
स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः क्वापि कदाचन ॥ १ ॥

एवं सदा[1] स्म[2] कर्तव्यं स्वयमेव करिष्यति ।
प्रभुः सर्वसमर्थो हि ततो[3] निश्चिन्ततां व्रजेत् ॥ २ ॥

यदि श्रीगोकुलाधीशो धृतः सर्वात्मना हृदि ।
ततः किमपर[4]ं ब्रूहि लौकिकैर्वैदिकैरपि ॥ ३ ॥

अतः[5] सर्वात्मना शश्वद्गोकुलेश्वरपादयोः ।
स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यमिति मे मतिः ॥ ४ ॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यविरचिता चतुःश्लोकी सम्पूर्णा ।

१ सतामिति सतीति च पाठः । २ स्वकर्तव्यमिति पाठः । ३ तेनेति पाठः । ४ अपरैरित्यपि पाठः । ५ तत इत्यपि पाठः ।

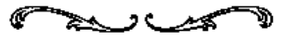
श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

चतुःश्लोकी ।

श्रीमद्व्रजराजचरणविरचितविवृतियुता ।



श्रीमद्रासरसामृताब्धिविलसद्गोपीशपादाम्बुज-
द्वन्द्वस्नेहविलासदानकरणे श्रीपारिजातोपमः ॥
स्फूर्जद्गोपकदम्बिनीविलसितप्रेमाख्यवर्त्माकरो
भूयान्मे हृदि सन्ततं दुरितहृच्छ्रीविट्ठलो बाल्लभिः ॥ १ ॥

भगवदीयानां धर्मादिचतुष्टयं भगवानेवेति स्वीयेषु कृपया श्रीमदाचार्यचरणाश्चतुर्भिः श्लोकैस्तदेव तज्ज्ञापनार्थं विवृण्वन्ति सर्वदा सर्वभावेनेति ।

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः ।
स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः क्वापि कदाचन ॥ १ ॥

सर्वभावेन सर्वात्मभावेन सर्वदा व्रजाधिपो भजनीय इति सम्बन्धः । सर्वैरिति शेषः । स्वस्यायमेव धर्मोन्यो न । क्वापि कुत्रचित् । कदाचन कस्मिन्नपि काले इत्यर्थः । हीति युक्तश्चायमर्थः । सहजदासत्वेन जीवस्य यतोयमेवार्थः श्रुत्या प्रतिपाद्यते । अत एवास्मत्प्रभुचरणै'[1]र्निजनिसर्गप्रभुश्रीगोकुलनाथचरणकमलदास्यमेव स्वधर्मं' इति निरणायि । सर्वदेतिपदेन नात्र कालादिनियम इति ज्ञापितम् । धर्मशास्त्रादिषु धर्मकरणे कालादिनियम उक्तस्तेन तत्र धर्मजनितफलस्यापि कालाधीनत्वेन क्षयिष्णुत्वमेव । अत्र तदभावाय सर्वदेत्युक्तं भवति । किञ्च, सर्वदेतिपदेन क्षणमात्रमप्यन्यधर्मकरणेऽनन्यत्वभङ्गप्रसङ्ग इति ज्ञापितं भवति, भगवतो जीवानां पतित्व-निरूपणात् । यथा पतिव्रतायाः क्षणमप्यन्यत्र मनश्चालनेन व्रतभङ्गस्तथात्रापीति ज्ञापनाय सर्वदेत्युक्तमितिभावः । सर्वभावेनेति । सर्वो भगवति यो भावस्तेन तथा । पतिपुत्रादिभावेनापि तथेत्यर्थः । एतदेवोक्तमाचार्यैरेव 'तादृशीं भावनां कुर्या'दित्यादि ।

श्रीरासरस के अमृतरूपी सागर में विलास करते हुए 'गोपीश' के चरणकमलयुगल में
स्नेहविलास का दान करने में कल्पवृक्ष के समान,
गोपीजन समूह से विलसित 'प्रेम' नामक सर्वश्रेष्ठ-मार्ग जिन
पापनाशक-वल्लभपुत्र श्रीविट्ठल में स्फुरायमान है, वह निरंतर मेरे हृदिस्थ हों ॥ १ ॥

भगवदीयों के धर्मादि चतुष्टय भगवान ही हैं, यह स्वीयों को कृपाद्वारा श्रीमदाचार्यचरण चार श्लोकों द्वारा वह अर्थात् धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष बताने के लिए **सर्वदा सर्वभावेन** इन शब्दों से विवृत कर रहे हैं।

सर्वभावेन अर्थात् सर्वात्मभाव से सर्वदा व्रजाधिप भजनीय हैं, यह संबंध है। 'सभी के द्वारा' यह शेष रह जाता है अतः जोड़ लेना चाहिए। स्वयं का यही धर्म है, अन्य नहीं। **क्वापि** अर्थात् कहीं भी। **कदाचन** अर्थात् किसी भी काल में, यह अर्थ है। 'हि' शब्द इस अर्थ की युक्तता बताने के लिए है। सहज दास होने से जीव का क्योंकि यही अर्थ श्रुति से प्रतिपादित होता है। अतएव हमारे प्रभुचरणों ने ''स्वयं के सहज प्रभु श्रीगोकुलनाथचरणकमल की दास्य ही स्वधर्म है (विद्वन्मंडन)'' यह निर्णीत किया है। **सर्वदा** इस पद से यहाँ कालादि का नियम नहीं है, यह बताया है। धर्मशास्त्रादि में धर्म करने में कालादि का नियम कहा है, इससे वहाँ धर्मजनित फल के भी काल के अधीन होने से वह फल नश्वर ही है। यहाँ उसके अभाव के लिए **सर्वदा** पद कहा गया है। और, 'सर्वदा' इस पद से क्षणमात्र भी अन्य धर्म करने पर अनन्यत्वभंग-प्रसंग उपस्थित होता है, यह ज्ञापित होता है। क्योंकि भगवान जीवों के पति हैं। जिस प्रकार

१ विद्वन्मण्डने—तथा चाणुपरिमाणस्यैव जीवनस्य पूर्वोक्तन्यायेन ब्रह्मणः सकाशान्निर्गतस्य ब्रह्मणा स्वसेवार्थमेव निजैश्वर्यस्य निवेषियत्वपरिहाराय च तथा प्रकटीकृतस्यात एव सहजहरिदासस्य तदंशत्वेन ब्रह्मरूपस्य च निजनिसर्गप्रभुश्रीगोकुलनाथचरणकमलदास्यमेव स्वधर्मः । तेन चातिसंतुष्टः स्वयं प्रकटीभूय निजगुणांस्तस्मै दत्वा स्वस्मिन्प्रवेशयति स्वरूपानन्दानुभावार्थमित्यादि निरूपितम् ।

पतिव्रता का क्षणभर भी अन्यत्र मन चलित होने से व्रतभंग होता है, उस प्रकार यहाँ भी बताने के लिए 'सर्वदा' यह पद कहा गया है, यह भाव है। **सर्वभावेन** इस पद की व्याख्या करते हैं। भगवान में जो सभी भाव है, उसके द्वारा भजना चाहिए। पतिपुत्रादि भाव से भी भजना चाहिए, यह अर्थ है। यही आचार्यचरणों ने ''वैसी भावना करनी चाहिए (सुबो.१०/२९/१५ कारिका-२) इत्यादि वाक्यों से कहा है।

यद्वा, सर्वभावपदेन स्त्रीभाव उच्यते । सर्वपदस्यैकस्मिन्धर्मे तत्रैव शक्तेः । अत एव व्रजमण्डनाभिरुक्तं, 'सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूल'मिति । तत्रैकस्मिन्सर्वपदाशक्तेरिति भावः । यद्वा, सर्वो भगवति यो भावः स्त्रीभाव इति यावत् । भगवति स एव भावः प्रयोजक इति श्रीमत्स्वामिनीकृतस्वशृङ्गारादिमकारयुक्ते भगवति यो भावः स तथा । अत एवास्मत्प्रभुचरणैरुक्तं 'यद्यपि युवतिवेष' इत्यारभ्य 'पुंसामपि युवतीभाव उद्वेल' इत्यन्तं पद्यद्वयेन । अत एवास्मत्प्रभुचरणैः श्रीमदाचार्यैश्चोक्तं 'एतस्य दर्शने तु स्यात्प्रमदाभाव एव ही'ति, 'स्त्रीभावो गूढ' इत्यादि च । ननु सर्वेषां तद्भावायोग्यत्वादेतद्बोधनमनुपपन्नमाभातीति चेत् ? सर्वेषां तद्योग्यत्वं ब्रह्मणा बृहद्वामने 'स्त्रियो वा पुरुषा वापि भर्तृभावेन केशव'मित्यादिनोक्तम् ।

अथवा, 'सर्वभाव' पद से स्त्रीभाव कह रहे हैं। सर्वपद वहीं एक स्त्रीभाव के धर्म में ही संभव होने के कारण। टीकाकार 'सर्वभाव' पद की व्याख्या कर रहे हैं। यहाँ उन्होंने कहा कि सर्वभाव पद से स्त्रीभाव का अर्थ भी द्योतित हो रहा है। समझना चाहिए कि 'सर्वभाव' पद संपूर्ण रूप से स्त्रीभाव में ही घटेगा, अन्यत्र नहीं। क्योंकि स्वयं प्रभु तो पुंभावात्मक हैं अतः सर्वभाव से स्त्रीभाव अर्थ लेने पर ही युक्त होगा क्योंकि प्रभु में तो स्त्रीभाव रखा नहीं जा सकता। यही बात मठपति जयगोपालभट्ट ने स्वयं की भक्तिवर्धिनीटीका में भी कही है अतः टीकाकार सर्वभाव से स्त्रीभाव कह रहे हैं, यह अर्थ है। अतएव व्रजमंडनाओं अर्थात् गोपिकाओं ने ''सभी विषयों को त्यागकर आपके चरणकमल (श्री.भा. १०/२९/३१) यह कहा है। वहाँ एक में अर्थात् पुंभाव में 'सर्व' पद असंभव होने से, यह भाव है। अथवा, भगवान में स्त्रीभावपर्यंत जो सर्वभाव है, वह। भगवान में वही भाव प्रयोजक है, इससे श्रीमत्स्वामिनीकृत स्वयं के श्रृंगारादि के प्रकार में युक्त भगवान में जो भाव है, वह सर्वभाव है। अतएव हमारे प्रभुचरणों ने ''यद्यपि युवतीवेश (श्रृं.र.मं. १०/२०)'' यहाँ से आरंभ कर ''पुरुष को भी युवतीभाव उच्छलित (श्रृं.र.मं. १०/१९)'' यहाँ तक दो पद्यों से कहा है। अतएव हमारे प्रभुचरणों एवं श्रीमदाचार्यों ने ''इसके दर्शन में तो स्त्रीभाव ही उत्पन्न होता है (ल.त्रि.स्त./४२)'' एवं ''स्त्रीभाव गूढ (सुबो.१०/१८/५)'' इत्यादि वाक्य कहे हैं। यदि यहाँ शंका हो कि सभी की इस भाव में अयोग्यता होने से यह बोध अनुपयुक्त आभासित होता है ? तो इस शंका का निवारण कर रहे हैं। टीकाकार यहाँ पूर्वपक्षी की शंका उठा रहे हैं। वे कहते हैं, कि उपर्युक्त जो उच्चतम भाव हैं, वैसे भाव सामान्य जीव को तो होते नहीं अथवा वे ऐसे भाव के अधिकारी भी नहीं हैं तो फिर सर्वभावेन... इत्यादि कहना अनुपयुक्त ही सिद्ध होगा, यह अर्थ है। सभी की वह योग्यता ब्रह्मा ने बृहद्वामनपुराण में ''स्त्री या पुरुष भी पतिभाव से केशव'' इत्यादि वाक्यों से कही है।

यद्वा, सर्वशब्देन प्रभुरेवात्रोच्यते, यतः सर्वशब्दस्य तत्रैव शक्तिः तदात्मरूपा स्वामिनी, तत्र भावेन दासीभावेन प्रभुषु तत्सन्देशादिकथनपूर्वकसर्वसामग्रीसम्पादनेनेतिभावहृदयम् । व्रजाधिपपदेन पूर्णपुरुषोत्तमत्वं ज्ञाप्यते । यथा कृपया तेषु स्वीयत्वं प्रकटीकृत्य स्वस्मिंश्च तदाधिपत्यं प्रकटीकृत्य रमते, तथैव सर्वात्मभावेन भजने सर्वेषामेव करिष्यतीति व्रजाधिपनाम्ना द्योत्यते । तेषु स्वाधिपत्यं तु श्रीगोकुलजनरसदानेच्छाजनितवामकरशिखरिवरधारणप्रोद्यदुत्साहोल्लसितहृदयेन श्रीगोकुलनाथैनैवोक्तं 'मन्नाथं मत्परिग्रह'मित्यादिना । एवं भगवतः स्वस्याधिपत्वं हृदि कृत्वा भजनीय इति भावः । स्वस्य तदंशत्वेनायमेव धर्मो नान्य इत्यर्थः । अत एव स्मर्यते 'यो यदंशः स तं भजे'दित्यादि । अस्य स्वधर्मत्वोक्त्यान्यधर्मकरणे बाधकत्वमेव स्यादित्यर्थः । अत एव श्रीदेवकीभाग्योदयाचलभूषणेन श्रीगीतास्वपि उक्तं 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' इति । अस्य स्वधर्मत्वोक्त्याऽन्यत्र तदभावः स्वतः सिद्ध एव, तथापि नान्य इति यदुक्तं तद्धर्मशास्त्रादिष्वन्यत्र स्वधर्मपदकथनेन तद्दर्शनेनापि चित्तेऽन्यथा न विचारणीयमिति भावः । यतस्ते बहिर्मुखा देहधर्ममेव स्वधर्मत्वेन वदन्ति, न तु भगवद्धर्ममिति । धर्मशास्त्रस्य तदुद्देशेनैव[2] प्रवृत्तेस्तदेनिरूपणं[3] युक्तमेव । अत एव युधिष्ठिरेण 'को धर्मः सर्वधर्माणां भवतः परमो मत' इति पृष्टो भीष्मः प्रभुसहस्रनामस्तवनं भक्त्या तत्सेवनं च परमधर्मत्वेनोक्तवान् ।

अथवा, 'सर्व' शब्द से यहाँ 'प्रभु' ही कहे जा रहे हैं, क्योंकि 'सर्व' शब्द की तदात्मरूपा स्वामिनी शक्ति वहीं है, वहाँ भाव से अर्थात् दासीभाव से प्रभु के संदेशादि कहने पूर्वक सर्वसामग्री संपादन द्वारा व्रजाधिप को भजना चाहिए, यह भाव हृदयंगम करना चाहिए। यहाँ टीकाकार 'सर्वपद' का और एक अर्थ कर रहे हैं। वे कहते हैं, कि 'सर्व' पद से प्रभु की आत्मरूपा स्वामिनीजी का भी अर्थ लेना चाहिए अर्थात् मूलपंक्ति ''सर्वदा.... व्रजाधिपः का कुल मिलाकर अर्थ यह हुआ कि सर्वदा सभी भाव से अर्थात् स्वामिनीयुक्त प्रभु के

१ शृङ्गारसरमण्डने दशमोल्लासे २ देहोद्देशेन ३ भगवद्धर्मानिरूपणम्

भाव से व्रजाधिप को भजना चाहिए। आगे और स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं, कि जिस प्रकार दूती या दासी प्रभु के संदेशादि स्वामिनीजी के पास अथवा स्वामिनी के संदेशादि प्रभु के पास पहुँचाती है, वैसे दासीभाव से व्रजाधिप का भजन करना चाहिए, यह अर्थ है। **व्रजाधिपः** पद से प्रभु का पूर्णपुरुषोत्तमत्व ज्ञापित होता है। जिस प्रकार, कृपा द्वारा उन व्रजभक्तों में स्वीयत्व प्रकट करके एवं स्वयं में उनका आधिपत्य प्रकट करके रमण करते हैं, उसी प्रकार सर्वात्मभाव से भजन करने पर सभी को ही ऐसा करेंगे, यह 'व्रजाधिप' नाम से द्योतित कर रहे हैं। उनमें स्वयं का आधिपत्य तो श्रीगोकुलवासियों को रसदान की इच्छा से जनित, वाम कर में गिरिधारण से उत्पन्न उत्साह से उल्लसित हृदय द्वारा श्रीगोकुलनाथजी ने ही "मैं स्वामी, मैं रक्षक हूँ (श्री.भा. १०/२५/१८)" इत्यादि वाक्यों से कहा है। इस प्रकार भगवान का स्वाधिपत्य हृदिस्थ कर भजना चाहिए, यह भाव है। स्वयं के उनका अंश होने से यही धर्म है, अन्य नहीं, यह अर्थ है। अतएव "जो जिसका अंश है, वह उसे भजता है" इत्यादि वाक्य स्मरण होते हैं। इस भजन को स्वधर्म कहा होने से अन्य धर्म करने पर बाधकता ही होती है, यह अर्थ है। अतएव श्रीदेवकी के भाग्य रूपी उदयाचल पर्वत के भूषणरूपी सूर्य अर्थात् श्रीकृष्ण ने श्रीगीता में "स्वधर्म करने में निधन भी उत्तम है किंतु परधर्म भयावह है (भ.गी. ३/३५) यह कहा है। इस भजन को स्वधर्म कहा होने से अन्यत्र स्वधर्म का अभाव स्वतः ही सिद्ध है, तथापि जो **नान्यः** कहा वह धर्मशास्त्रादि में अन्यत्र 'स्वधर्म' पद कहा होने से, वह देखने से भी चित्त में अन्यथा विचार नहीं करना चाहिए, यह भाव है। टीकाकार कहना चाह रहे हैं, कि चूँकि भजन ही स्वधर्म कहा होने से अन्यत्र इसके अतिरिक्त और कुछ भी स्वधर्म नहीं है यह सिद्ध हो ही जाता है तथापि नान्यः अर्थात् 'दूसरा कोई स्वधर्म नहीं है" यह क्यों कहा ? इसे समझना चाहिए। इसका समाधान करते हुए वे कहते हैं, कि धर्मशास्त्रों में वर्णाश्रमधर्म को स्वधर्म कहा गया है अतः इससे विचलित होकर भजन ही स्वधर्म मानना चाहिए, यह अर्थ है। क्योंकि वे बहिर्मुख हैं जो देहधर्म को ही स्वधर्मरूप से कहते हैं न कि भगवद्धर्म को। धर्मशास्त्र के उस देहधर्म के उद्देश्य से ही प्रवृत्ति होने से उस भगवद्-धर्म का निरूपण न होना युक्त ही है। चूंकि धर्मशास्त्रों में देह को धर्मानुसार कैसे रखना ? इसका ही विचार किया गया होने से भगवद्-धर्म का निरूपण न होना ठीक ही है अर्थात् देहधर्म की चर्चा में आत्मा के भगवद्-धर्म तो संग्रहीत नहीं ही होंगे, यह टीकाकार का आशय है। अतएव युधिष्ठिर द्वारा " आपके मत में सभी धर्मों में परम-धर्म क्या है?" यह पूछने पर भीष्म ने प्रभु के सहस्र नामों का स्तवन एवं भक्ति से उनकी सेवा परमधर्मतया कही।

नन्वयं[1] कर्तव्य एव तत्कथं सर्वथा निषिध्यते । उच्यते । सत्यमस्य देहसम्बन्धित्वेन करणीयत्वमायाति, परमन्यसृष्टिवद्यदि भक्तानां देहो भौतिको भवेत्, भगवद्भक्तानां तु भगवत्पादपद्मरेणुसम्पादितदेहत्वात्तद्भजनकरणमेव स्वधर्मो नान्य इति सर्वमवदातम् । अत एव श्रीवराहैरुक्तं, 'अन्यैव काचित्सा सृष्टिर्विधातुर्व्यतिरेकिणी'त्यादि । सा सृष्टिर्भगवता स्वसेवार्थमेवोत्पादितेति तत्सेवनमेव धर्म इति भावः । तत्र[2] देशादिसाधनस्योक्तत्वाद्धर्माभास एव न तु धर्मोपि, स्वतो दुर्बलत्वादन्यसापेक्षणमप्यत[3] एव । अत्र तदभावमाहुः **क्वापिति । अस्य धर्मिमार्गत्वात्प्रबलत्वेन कुत्रापि करोतु न देशादिनियमो, यतो देशाद्याधिदैविकसम्पादनं भगवतैव । अत एवोक्तं श्रीभागवते 'तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृते'ति । तेन अन्यः क्वापि न । अयं तु धर्मिरूपत्वादतिप्रबलत्वादतिरोहितत्वात्क्वापि भवत्विति भावः । धर्मिधर्मयोरभेदाद्धर्मोक्तिरिति भावः । कदाचन कस्मिन्नपि कालेऽन्यधर्मः स्वधर्मो नेत्यर्थः । भक्तानां धर्मरूपोपि भगवानेव । तस्माद्धर्मादिषु मनोगमनेपि तत आकृष्य भगवत एव धर्मरूपतां ज्ञात्वा सर्वात्मभावेन भगवानेव भजनीय इति भावः ।**

यहाँ शंका करते हैं कि यदि यही स्मार्तधर्म ही कर्तव्य हैं तब क्यों उसे सर्वथा निषेध कर रहे हैं ? टीकाकार यहाँ एक शंका उठा रहे हैं। वे कहते हैं, कि भक्तिमार्ग से भिन्न अन्य श्रौत या स्मार्त धर्म भी तो हैं ? फिर उनका निषेध कर क्यों भजनादि का विधान किया जा रहा है ? इसे वे आगे स्पष्ट कर रहे हैं। कह रहे हैं। सत्य है कि देह संबंधीतया इसको करना होता है परंतु अन्य सृष्टि की भाँति यदि भक्तों की देह भौतिक हो। भगवद्भक्तों की तो भगवद्चरणकमल की रेणु से संपादित देह होने से उनका भजन करना ही स्वधर्म है, अन्य नहीं यह सभी जान लेना चाहिए। अतएव श्रीवराह ने "ब्रह्मा की सृष्टि से भिन्न ऐसी कोई यह दूसरी सृष्टि है" इत्यादि वाक्य कहे हैं। वह सृष्टि भगवान ने स्वयं की सेवा के लिए उत्पादित की है अतः उनकी सेवा ही धर्म है, यह भाव हैं। वहाँ स्मार्तधर्म में देशादि साधन कहे होने से धर्म का आभास ही है न कि धर्म ही, स्वतः दुर्बल होने से एवं अन्य से सापेक्ष होने से, इस कारण। यहाँ वह दुर्लबता नही है यह **क्वापि** इन शब्दों से कह रहे हैं। इस भक्तिमार्ग के धर्मिमार्गतया प्रबल होने से कहीं भी करें, देशादि का नियम नहीं है, क्योंकि देशादि आदिदैविक संपादन भगवान द्वारा ही है। अतएव श्रीभागवत में "आप, हृदिस्थ भगवान द्वारा तीर्थों को भी महातीर्थ करते हुए विचरण करते हैं (श्री.भा. १/१३/१०)" यह कहा है। इससे, अन्य कोई भी धर्म, स्वधर्म नहीं है। यह तो धर्मिरूपतया अतिप्रबल होने से, अतिरोहित होने से कहीं भी हो सकता है, यह भाव है। धर्मि-धर्म में अभेद होने से धर्म ही कहा है, यह भाव है। **कदाचन** अर्थात् किसी भी काल में अन्य धर्म, स्वधर्म नहीं है, यह अर्थ है। भक्तों के धर्मरूप भी भगवान ही हैं। अतः मर्यादामार्गिय धर्मादि अर्थात् धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष में मन जाने पर भी वहीं से खींच कर भगवान को ही धर्मरूपतया जानकर सर्वात्मभाव से भगवान ही भजनीय हैं,

१ ननु स्मार्ता एव ते इत्यपि पाठः २ स्मार्ते धर्मे ३ दुर्बलत्वादेव ४ तदभावार्थमिति

यह भाव है।

किञ्च, धर्मेणैवेष्टसिद्धिः; यतो निगमे तथैव प्रतिपाद्यते । 'धर्मेण पापमपनुदती'त्यादिना पापस्यैवेष्टप्राप्तिप्रतिबन्धकत्वेन श्रवणात् । तत्र[1] साङ्गविधिना कृतेन धर्मेण पापनिवृत्तिस्ततः पुनस्तत्करणेन फलप्राप्तिः । सा चातिदूरतरा, यतः साङ्गकरणं न सम्भवति । अतः स्मर्यते, 'यस्य स्मृत्ये'त्यारभ्य 'न्यूनं सम्पूर्णतां याती'त्यन्तेन भगवत्स्मरणेनैव तत्र पूर्णता । अन्यथा विधिशेषत्वं भवत्येव । अत्र विधेरेवाभावेन भजनस्यैव भावात्मकत्वेन फलस्यैव धर्मोक्त्या भजनानन्द एव फलाप्तिरिति भावः । अत एव यदुकुलामृताब्धिसुधादीधितिनाऽगादि 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यह'मित्यादिना । विधिहीनानां धर्मादीनामसाधकत्वं योगियाज्ञवल्क्येन स्मर्यते 'विधिहीनं भावदुष्टं कृतमश्रद्धया च यत् । तद्धरन्त्यसुरास्तस्य सुमूढस्याकृतात्मन' इति । किञ्च, भक्तानां भगवानेवेष्टस्तत्प्राप्तिश्च नान्यधर्मैर्भवति, विना तत्सेवनम् । तस्मात्तद्विप्रयोगतापे सति तत्प्राप्त्यर्थं च यद्भगवत्सेवनं तद्धर्मरूपमेवेति भावः । अत एव शुकवागमृताब्धौ 'भक्त्या सञ्जातया भक्त्या' 'भक्त्या तुतोष भगवान् गजयूथपाय' 'प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद्विडम्बनम्' 'भक्त्याहमेकया ग्राह्यः' 'श्रद्धयात्मा प्रियः सताम्' 'प्रतिष्ठया सार्वभौम'मित्यारभ्य, 'मामेव नैरपेक्ष्येण भक्तियोगेन विन्दति' इत्यन्तेनैवं वाक्यसहस्रैर्भक्तीतरसाधनासाध्यत्वं निश्चीयते भगवतः । तत्रैव पुनर्भगवता सर्वधर्मान्निरूपयता श्रीमदुद्धवं प्रत्युक्तं 'सर्वेषां मदुपासन'मित्यारभ्य, 'इति मां यः स्वधर्मेण भजन्नित्यमनन्यभाक्' इत्यन्तेनानन्यभजनस्यैव स्वधर्मत्वम् । तस्माद्धर्माकाङ्क्षायां भगवदीयानां धर्मरूपो भगवानेव भजनीय इति भावः ।

और, धर्म से इष्टसिद्धि होती है क्योंकि वेद में उसी प्रकार प्रतिपादित है। ''धर्म से पाप का नाश होता है'' इत्यादि वाक्यों से पाप ही इष्टप्राप्ति में प्रतिबंधक सुना गया होने से। वहाँ धर्म से इष्टसिद्धि में अंगसहित विधिद्वारा किए गये धर्म से पाप निवृत्तः होता है पश्चात् वह धर्म करने से फलप्राप्ति होती है। एवं वह फलप्राप्ति तो दूरतर है क्योंकि उस धर्म को अंगसहित करना संभव नहीं होता है। अतः स्मरण करते हैं ''जिसके स्मरण से'' यहाँ से आरंभ कर ''न्यून में संपूर्णता आती है'' यहाँ तक, भगवत्स्मरण से ही वहाँ पूर्णता होती है। अन्यथा विधि शेष रहती ही है। यहाँ विधि का ही अभाव होने से, भजन के ही भावात्मक होने से, फल को ही धर्म कहा होने से भजनानंद ही फलप्राप्ति है, यह भाव है। अतएव यदुकुल के अमृतरूपी सागर के चंद्रमा अर्थात् श्रीकृष्ण ने ''जो जिस प्रकार मेरे शरणागत होता है, उसे मैं उस प्रकार भजता हूँ (भ.गी.४/११)'' यह कहा है। ऐसे धर्म जो विधिपूर्वक नहीं किए जाते हैं वे धर्म के साधक नहीं हो पाते, यह जानने के लिए योगी याज्ञवल्क्य द्वारा कहा ''उस मूर्ख, अकृतात्मा का जो विधिहीन, भावदुष्ट एवं अश्रद्धा से किया गया कर्म है, वह असुर हर लेते है'' यह वाक्य स्मरण होता है।

और, भक्तों के भगवान ही इष्ट हैं एवं उनकी प्राप्ति उनकी सेवा के बिना अन्य धर्मों द्वारा नहीं होती। अतः उनका विप्रयोगताप होने पर एवं उनकी प्राप्ति के लिए जो भगवद्सेवा है वह उसका अर्थात् उस भक्त का धर्मरूप ही है, यह भाव है। अतएव शुकवाक्सुधा अर्थात् भागवत में ''भक्ति से उत्पन्न भक्ति द्वारा (श्री.भा. ११/३/३१) ''भक्ति से तो भगवान, गजेन्द्र पर भी संतुष्ट हो गये (श्री.भा. ७/९/९), ''हरि निर्मलभक्ति से प्रसन्न होते हैं, अन्य तो विडंबना है। (श्री.भा. ७/७/५२) ''एक भक्ति द्वारा ग्राह्य हूँ, संतों का प्रिय आत्मा हूँ (श्री.भा. ११/१४/२१) मेरी मूर्ति-प्रतिष्ठा द्वारा सार्वभौम (श्री.भा. ११/२७/५२)'' यहाँ से आरंभ कर ''निरपेक्ष-भक्तियोग से मुझे ही पूजता है (श्री.भा. ११/२७/५३) यहाँ तक, इस प्रकार हजारों वाक्यों द्वारा भक्ति से भिन्न साधनों द्वारा भगवान का आराध्यत्व निश्चित होता है। वहीं पुनः भगवान ने सर्वधर्मों का निरूपण करते हुए श्रीमद्उद्धव के प्रति ''सभी को मेरी उपासना करनी चाहिए (श्री.भा.११/१८/४३) यहाँ से आरंभ कर ''इस प्रकार स्वधर्म से अनन्य भावतया जो मेरा भजन करता है (श्री.भा. ११/१८/४४) अनन्य भजन को ही स्वधर्म कहा है। अतः धर्म की आकांक्षा होने पर, भगवदीयों के धर्मरूप-भगवान ही भजनीय हैं, यह भाव है।

किञ्च, अन्यधर्माणामधिकारिपरत्वमुक्तं, प्रभुचरणैः स्वभजनस्य च सर्वेषामधिकारित्वम् । तेन सर्वपापशोधकनिर्मलवस्तुनो नाधिकारादिकमपेक्षितम् । तस्माद्धर्मपदस्य भगवद्भजन एव शक्तिः । तथा च तेजवत्स्वन्यत्रापि दृश्यते । अतिरोहिताधिदैविकगङ्गास्नाने पापनिवर्तकत्वं, अग्नेश्च दाहकरणेऽविचारस्तथान्यधर्मादिषु धर्मत्वं चेत्स्यात्तदेष्टरूपभगवत्प्राप्तिरपि स्यादेव, सर्वेषां च तत्करणेऽधिकारोऽपि स्यात्परं तदभावे तत्र धर्मपदप्रयोगो गौण एवेति भावः हीति युक्तश्चायमर्थः, सर्वात्मकस्य भगवत एव सेवनमात्मधर्म इति । यद्वा, हीति युक्तश्चायमर्थः, यदन्यसम्बन्धरहितस्यैव भगवद्भजनस्यैव धर्मत्वम् । यतो भगवताप्युक्तं 'भक्त्या त्वनन्यया ग्राह्यः' 'अनन्याश्चिन्तयन्तो मा'मित्यादिनेति भक्तानां भगवद्भजनमेव स्वधर्म इति स्वधर्मत्वेन भगवानेव सेव्यो नत्वन्यधर्मेषु मनो निवेशनीयमिति भावः ॥ १ ॥

और, अन्य धर्मों को अधिकारीपरक कहा गया है एवं प्रभुचरणों ने स्वभजन को सभी का अधिकारीरूप कहा है। इससे, सर्वपापशोधक-निर्मलवस्तुओं को अधिकारी की अपेक्षा नहीं है। यहाँ टीकाकार कहना चाह रहे हैं, कि अन्य धर्मों को करने में तो

१ धर्मेणेष्टसिद्धौ

देशकालादि के अनुसार, उत्तममध्यमजघन्याधिकारी के अनुसार योग्यता प्राप्त होती है किंतु व्रजाधिप का भजन तो कोई भी कर सकता है। इस संदर्भ में '''देवोऽसुरो मनुष्यो वा (श्री.भा. ७/७/५०) एवं अपि चेत्सुदुराचारो (भ.गी. ९/३०)'' इत्यादि वाक्य स्मरणीय हैं अतः प्रभुभजन में अधिकारीविशेष की अपेक्षा नहीं है। और, प्रभु जो स्वयं निर्मल, निर्दुष्ट, पापशोधक हैं अतः आपश्री के सन्मुखसभी शुद्ध हो जाते हैं, यह भाव है। जैसे श्रीयमुनाजी के लिए ''भुवं भुवन पावनीम् (यमु./३)'' यह कहा है। इस प्रसंग के अनुरूप ही एक प्रसंग श्रीमद्भागवत में आया है, ''साधवो न्यासिनः ध्यघभिद्धरिः (श्री.भा. ९/९/५,६)'' विशेष जानकारी के लिए देखें। अतः 'धर्म' पद की भगवद्भजन में ही शक्ति है। एवं इस प्रकार अन्यत्र जो ऐसे तेजस्वी होते हैं, उनमें भी ऐसी भगवत्-शक्ति देखी जाती है। जिस प्रकार अतिरोहित आधिदैविक गंगास्नान में पापनिवारकता है एवं अग्नि की दाहकता में कोई शंका नहीं है, उस प्रकार अन्य धर्मों में यदि धर्मत्व होता तो इष्टरूपा भगवत्प्राप्ति भी होती ही एवं सभी को वह धर्म करने का अधिकार भी होता परंतु उसका अभाव होने पर 'धर्म' पद का प्रयोग गौण ही है, यह भाव है। टीकाकार कहना चाह रहे हैं, कि जिस प्रकार गंगास्नान करने पर पापों का निवारण होता ही है, जिस प्रकार अग्नि का स्पर्श करने पर दाह होता ही है, इसमें कोई संदेह नहीं है, उसी प्रकार यदि अन्य धर्मों में पुरुषोत्तम की प्राप्ति संभव होती तो निःसंदेह प्रभु प्राप्त होते ही एवं उस धर्माचरण का अधिकार भी सभी को होता। किंतु नहीं है। अन्य धर्मों में प्रभु की विभूतियों की प्राप्ति होती है, पूर्णपुरुषोत्तम की नहीं अतः मर्यादामार्ग में धर्म पद का प्रयोग गौणरूप से ही लेना चाहिए, यह अर्थ है। 'हि' शब्द इस अर्थ की युक्तता बताने के लिए है, कि सर्वात्मक भगवान की ही सेवा आत्म-धर्म है। अथवा 'हि' शब्द इस अर्थ की युक्तता बताने के लिए है कि जो अन्यसंबंध से रहित भगवद्भजन ही धर्म है। क्योंकि भगवान ने भी ''अनन्यभक्ति से ही प्राप्त होता हूँ (भ.गी.११/५४)'', ''अनन्यता से चिंतन करते हुए मुझे (भ.गी. ९/२२)'', इत्यादि वाक्यों से कहा है अतः भक्तों का भगवद्भजन ही स्वधर्म है अतः स्वधर्मतया भगवान ही सेव्य हैं न कि अन्य धर्मों में मन निविष्ट करना चाहिए, यह भाव है ॥ १ ॥

एवं धर्मरूपमुक्त्वा अर्थस्वरूपमाहुः एवमिति ।

एवं सदा स्म कर्तव्यं स्वयमेव करिष्यति ।
प्रभुः सर्वसमर्थो हि ततो निश्चिन्ततां व्रजेत् ॥ २ ॥

सदा एवं कर्तव्यं यथाग्रे निरूप्यते । तदेवाहुः प्रभुरिति । प्रभुः स्वामी भक्तानाम् । सर्वरूपश्चासौ सम्यगर्थरूपश्च यतः, तस्मात्स्वयमेव करिष्यति ततः कारणान्निश्चिन्ततां निश्चिन्तस्य भावं व्रजेदित्यर्थः । एवमेव कर्तव्यमिति । स्मेति प्रसिद्धिरुक्ता । अर्थः सर्वदा गोप्यो भवति, तद्रूपमेव गोपायति । प्रभुः सर्वसमर्थस्ततः स्वयं कर्तव्यं रक्षणादिकं प्रभुरेव करिष्यति । एवं सदा निश्चिन्ततां व्रजेदित्यर्थः । यथार्थस्य रक्षार्थं स्वयं यत्नः क्रियते तस्य जडत्वादत्र प्रभोरेव तदुक्त्या यो गोप्योंशस्तं प्रभुरेव भावादिरूपं गोप्यं करिष्यतीति स्वयं निश्चिन्तो भवेदितिभावः । अत एवाचार्यैर्नवरत्ने उक्तं, 'चिन्ता कापी'त्यादि । यथार्थस्य सम्यग्गोपने कृत एव निश्चिन्तता भवेत्तथात्र तं भावमर्थरूपं बहिर्मुखादिचौरेभ्यो भगवान् स्वयमेव गोपायतीति सिद्धवत्कारेण निश्चिन्ततां व्रजेदित्युक्तम् । यथार्थस्य गोपनं सर्वेभ्यः क्रियते तथास्यापि भावस्यातिगोप्यत्वान्नोक्तं, परं निश्चिन्ततोक्त्या गुप्तत्वेनोक्तमिति भावः ।

इस प्रकार, 'धर्म' का स्वरूप कहकर 'अर्थ' का स्वरूप एवम् इन शब्दों से कह रहे हैं।

सदा ऐसा करना चाहिए जैसा आगे निरूपित कर रहे हैं। वही **प्रभुः** इन शब्दों से कह रहे हैं। प्रभु भक्तों के स्वामी हैं। वह सर्वरूप हैं, क्योंकि भलीभांति अर्थरूप हैं, अतः स्वयं ही करेंगे ततः अर्थात् इस कारण से निश्चिंतता अर्थात् निश्चिंतता का भाव प्राप्त करना चाहिए, यह अर्थ है। ऐसा ही करना चाहिए। स्म शब्द प्रसिद्धि-अर्थ में कहा है। धन सर्वदा गुप्त होता है, उसका रूप ही उसे गुप्त बनाता है। प्रभु सर्वसमर्थ हैं इसलिए **कर्तव्यं** अर्थात् रक्षणादि स्वयं प्रभु ही करेंगे। इस प्रकार सदा निश्चिंतता को प्राप्त होना चाहिए, यह अर्थ है। जिस प्रकार धन के जड़ होने से उसकी रक्षा के लिए स्वयं यत्न किया जाता है, उस प्रकार यहाँ तो जड न होकर स्वयं प्रभु ही कहे होने से जो गुप्त अंश है, उसके भावादिरूप को गोपन प्रभु ही करेंगे, अतः निश्चिंत हो जाना चाहिए यह भाव है। अतएव आचार्यों ने नवरत्न में ''कोई भी चिंता/१'' यह कहा है। जिस प्रकार धन का भलीभाँति गोपन करने पर ही निश्चिंतता होती है, उस प्रकार यहाँ उस भावरूप अर्थ का बहिर्मुखादि चोरों से गोपन, भगवान ही करते हैं, इस सिद्धकारण से निश्चिंतता को प्राप्त होना चाहिए, यह कहा है। जिस प्रकार धन का गोपन सभी के द्वारा किया जाता है उस प्रकार इस भाव के अति गोपनीय होने से नहीं कही गई है परंतु निश्चिंतता कही होने से गुप्ततया ही कही है, यह भाव है। यहाँ समझना चाहिए कि मूल कारिका में केवल इतना कह दिया गया है कि जीव को निश्चिंत हो जाना चाहिए। क्यों ? कैसे ? कब ? इत्यादि को स्पष्टतया नहीं कहा है। इसे ही समझाने के लिए टीकाकार कहना चाह रहे हैं, कि जिस प्रकार लोक में धन को अन्यों से गुप्त रखा जाता है एवं यही गोपन स्वतः धन की मुख्यता को भी सिद्ध करता है उसी प्रकार प्रभु के ये भाव मुख्य एवं गोपनीय होने से स्पष्टतया नहीं कहे गए हैं। सूत्रात्मक शैली में केवल 'निश्चिंत हो जाना चाहिए' इतना ही कहा है। यहाँ किंतु, टीकाकार यह खुलासा कर रहे हैं, कि उन भावों का गोपन करने से स्वयं उनकी उत्कृष्टता सिद्ध हो जा रही है।

समझना चाहिए कि छुपाया वही जाएगा या गोपन उसी का किया जाएगा अथवा रक्षणीय भी वही होगा जो हमारे लिए अति महत्वपूर्ण है। ऐसी महत्वपूर्ण वस्तु का गोपन/रक्षण कर देने पर निश्चिंतता तो आती ही है, यह अर्थ है।

यद्वा, प्रभुः सर्वसमर्थस्ततः स्वयमेव कर्तव्यं करिष्यति, सदैवं ज्ञात्वा निश्चिन्ततां व्रजेदित्यर्थः । यथार्थेनैव सर्वसामग्र्यादिकं भवति तथात्र प्रभुः स्वभोगयोग्यदेहयौवनादिसामग्रीसम्पादनं कर्तव्यत्वेनोच्यते तत्स्वयमेव करिष्यति । यतः सर्वपदेन भक्तानां सर्वेषां सम्यगर्थः स एवेति सदैवं तथा भवेदिति भावः । अयमेवार्थो रसाब्धिसुधाकरश्रीमत्प्रभुचरणै रससर्वस्वे निर्णीतः । 'विनैव समयक्रमं सखि तदा यदासीदतिस्फुटं नवलयौवनं त्रिदशमोहिनीमोहनम् । तदङ्गगुणो न तद्व्रतकृतोऽन्यदीयोपि वा विचित्ररसभावितप्रियकटाक्षगोयं परम्' 'वय एव यदीदृशं तदीयं किमु वाच्यं सखि विग्रहाद्यशेषम् । रसरूपमितीन्दिरादुरापं रसमापुर्यदुदारतो रसाब्धे'रित्यादिना । तेनार्थस्याधिदैवरूपायास्तस्या[1] यदुरापं तदर्थासाध्यं तु भवत्येव, भगवता च स्वीयेषु तत्संपाद्यते । तस्माद्भगवानेवास्माकमर्थरूपोऽस्ति, स एव सर्वं करिष्यतीति ज्ञात्वा, एवं पूर्वोक्तसर्वात्मभावेन सदा भजनं कर्तव्यम् । ततः प्रभुरपि सर्वसमर्थस्तथैव करिष्यतीति भावः ।

अथवा, प्रभु सर्वसमर्थ हैं इससे, स्वयं ही कर्तव्य करेंगे सदा यह जानकर निश्चिंतता को प्राप्त होना चाहिए, यह अर्थ है। जिस प्रकार धन से ही सर्वसामग्री आदि होती है, वैसे यहाँ प्रभु, स्वयं के भोगयोग्य जिस देहयौवनादि सामग्री को कर्तव्यता कह रहे हैं, वह स्वयं ही करेंगे। क्योंकि 'सर्व' पद से सभी भक्तों का उचित 'अर्थ' वह ही हैं अतः सदा ऐसे निश्चिंत हो जाना चाहिए, यह भाव है। यही अर्थ रससिंधुचंद्ररूपी श्रीमत्प्रभुचरणों ने 'रससर्वस्व' में "हे सखि ! समयक्रमानुसार बिना ही देवताओं की मोहिनी को मोहनेवाला नवलयौवन अति स्फुट हुआ वह उस अंग का गुण नहीं, वह व्रत का गुण नहीं, वह किसी अन्य का गुण नहीं किंतु विचित्ररस से भावित प्रिय प्रभु के कटाक्ष से हुआ है। इस वय में जब ऐसा है तब संपूर्ण स्वरूप का क्या कहना ? लक्ष्मी को भी दुर्लभ ऐसा रसरूप, रससागर से उदारतापूर्वक प्राप्त हुआ है (रससर्वस्व/२२१)" इत्यादि वाक्यों से निर्णीत किया है। इससे, अर्थ की आधिदैविकरूपा लक्ष्मीजी की जो दुर्लभता है, वह धन से असाध्य तो होती है किंतु भगवान स्वीयों के लिए उसे संपादित कर देते हैं। यहाँ समझना चाहिए कि लक्ष्मीजी आधिदैविक स्वरूप दुर्लभ होने के कारण उन्हें धन द्वारा तो प्राप्त नहीं किया जा सकता किंतु भगवान जब जीव पर कृपा करते हैं तब वे उसे तुच्छ लौकिक धन न देकर आधिदैविक लक्ष्मी दे देते हैं। संप्रदाय की वार्ता प्रसंगो में तो ऐसे भी वर्णन मिलते हैं जहाँ स्वयं लक्ष्मी जी भगवद्-भक्तों के यहाँ अभिलाषी होकर बैठी हुई हैं। ऐसे भी प्रसंग हैं जहाँ भगवद्-भक्तों ने धन को बिल्ली का बिगाड़ कहकर त्याग दिया है। अतः ज्ञात होता है कि भगवद्-भक्तों को प्रभुभक्ति के सामने लौकिकधन तो अपेक्षित ही नहीं होता। अतः भगवान ही हमारे अर्थरूप है, वह ही सब करेंगे, यह जानकर एवं अर्थात् पूर्व में कहे सर्वात्मभाव से **सदा** भजन करना चाहिए। इससे, सर्वसमर्थ-प्रभु भी वैसा ही करेंगे, यह भाव है।

ननु तथाकरणं व्रजवरकुमारिकास्वेव संभवति, तासां योग्यत्वादन्येषामयोग्यत्वात्कथमेवं बोधनमिति चेत् ? सत्यं, तदयोग्यत्वं जीवानां, तथापि सर्वात्मभावेन तथा चेद्भजेत्तदा भगवदनुग्रहेण तता भवेत्तदा भगवानपि कुर्यादेवेति भावः । अत एव पुष्टिसरसिजमार्तण्डायितचरणाचार्यैरेव भ्रमरगीतविवरणे प्रकटीकृतं 'तदुरापत्वेपि तदाशया तद्भजनमेव कार्य'मित्युक्तम् । तदप्राप्तिश्चेत्स्यात्तदा 'तदाशये'ति नोक्तं स्यात् । तथा च श्रीगोपीजनप्रेमकुमुदबन्धुश्रीविट्ठलनाथैरपि विद्वन्मण्डने रससर्वस्वे चालेखि, 'सर्वात्मभावेन चेत्तथा भजनं करोति तदा भगवानप्यङ्गीकरोत्येवे'ति । 'यद्वानज्ञे'त्यस्मिन्पद्येपि 'यस्मिन्महानुग्रहस्तस्मिन्घोषनितम्बिनीत्वमचिरात्कर्त्ता प्रियः प्रायश' इति । तस्मात्तदनुग्रहेण तथाभवतीति भावः । अत एव यदुकुलरत्नाकरेन्दुना 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इत्युक्तम् ।

यहाँ शंका यह होती है कि, उपर कहे उच्चतम भावों से भजन करने में तो केवल गोपिकाएँ ही समर्थ थीं। अतः ऐसा भजन तो वहीं संभव है, अन्यत्र दूसरे तो इसके योग्य नहीं है। तो इस प्रकार के भजन का बोध क्यों किया जा रहा है ? सत्य है, जीवों की वह अयोग्यता है तथापि सर्वात्मभाव से यदि वैसे भजें तब भगवद्-अनुग्रह से वह नवयौवन वाला होता है। तब भगवान भी सभी कर्तव्य करते ही हैं, यह भाव है। अतएव पुष्टिरूप कमल के सूर्यरूपी आचार्यों ने ही भ्रमरगीत के विवरण में प्रकृट कर "उनके दुर्लभ होने पर भी उनकी आशा से भजन करना चाहिए " यह कहा है। यदि वह अप्राप्य होता तो श्रीमहाप्रभुने 'उनकी आशा से' यह न कहा होता। एवं श्रीगोपीजन के प्रेमकुमुदबंधु अर्थात् चंद्रमा श्रीमत्प्रभुचरणों ने विद्वन्मण्डन में एवं रससर्वस्व में "उस प्रकार यदि सर्वात्मभाव से जो भजन करता है तब भगवान भी अंगीकार करते ही हैं" यह लिखा है। "यद्वानज्ञे (रससवर्स्व ६९)" इस पद्य में भी "प्रिय प्रभु जिस पर महान-अनुग्रह करते हैं उसमें प्रायः घोषनितंबिनीत्व अर्थात् गोपीत्व शीघ्र कर देते हैं" यह लिखा है। अतः अनुग्रह से वैसा भाव हो जाता है, यह भाव है। अतएव, यदुकुल के सिंधुचंद्र श्रीकृष्ण ने "जो जिस प्रकार मेरे शरणागत होता है (भ.गी. ४/११)" यह कहा है।

१ लक्ष्म्याः ।

यद्वा, स्वयं कर्तव्यं भजनादिकं व्रजसुन्दरीषु समर्थो हि प्रभुः करिष्यत्येवास्मद्दर्शनार्थम् । सदा एवं निश्चिन्ततां व्रजेत् तत्प्रकारकभगवल्लीलादर्शनार्थं चिन्ता न कार्या । प्रभुः स्वत एव करिष्यतीति भावः । स्मेति प्रसिद्धिः । यतः प्रभुणैवोक्तं 'अहं भक्तपराधीन' इति । तदधीनत्वेन तन्मनोभिलषितकरणं स्वत एव सिद्धम् । हीति निश्चयेन युक्तश्चायमर्थः । यतो भगवदर्थं 'सन्त्यज्य सर्वविषया'नित्यादिवद्ये त्यजन्ति तेषां मनोरथपूरणं च भगवता कर्तव्येमेव । अत एव भगवतैवोक्तं 'ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान्बिभर्म्यहम्' इत्यनेन । भरणकरणोक्त्या यथा तेषां स्वलीलादर्शनं भवति तथैव कृत्वा स्वलीलायामेव स्वरूपात्मिकायां स्वस्मिन्नेव स्थापयामीति भावः । अर्थेनैव स्वमनोरथाभिलाषो भवति, अन्यथा तु जलतरङ्गवदुद्भूतदीनमनोरथापूर्तिरेव सदा, तथात्र श्रीमत्प्रभुचरण-सेवनेनैव भक्तमनोरथपूर्तिरिति भक्तानामर्थरूपोपि भगवानेव सेव्य इति भावः । यर्थार्थं बिना लौकिकरमणादिकं भोगश्च न सिध्यति तथात्रार्थाधिदैविकलक्ष्मीप्रवेशं बिना भगवद्रमणभोगौ च न सम्भवतः । सा सम्पत्तिरपि स्वस्मिन् स्वत एव सेवनसन्तुष्टः करिष्यत्येव प्रभुस्तदा श्रीमदनुग्रहेण तत्प्राप्तिस्तेन च तौ संभवेताम् । भगवदाज्ञयैव भगवदेकशरणायास्तस्याः प्राप्तिरिति भगवानेवार्थरूपः । अतएव श्रीगोकुलनाथवागधिपतिश्रीमत्प्राणेश्वरैः फलप्रकरणे 'सर्वत्र तासु सा भगवदाज्ञया निविष्टे'ति । अस्यार्थस्यात्यन्तं गोप्यत्वात्सर्वसमर्थ इतिपदेन परोक्षेणैव गुप्ततया प्रभुचरणैः प्रकटीकृतमित्यलं लेखनेन । तच्चरणाब्जमकरन्दपानमत्तानां हृदि प्रभुमुखेन्दूदयेन स्वत एव भावाब्धिवीचिप्रचारो भविष्यतीति भावः ॥ २ ॥

अथवा, स्वयं का भजन आदि जो कर्तव्य है, वह व्रजसुंदरियों में सर्वसमर्थ-प्रभु हमें दिखाने के लिए करेंगे ही। सदा इस प्रकार निश्चिंतता प्राप्त करनी चाहिए, वैसे प्रकारक भगवद्-लीलादर्शन के लिए चिंता नहीं करनी चाहिए। प्रभु स्वतः ही करेंगे, यह भाव है। **स्म** शब्द प्रसिद्धि-अर्थ में है। क्योंकि प्रभु ने ही ''मैं भक्त-पराधीन हूँ (श्री.भा. ९/४/६३) यह कहा है। भक्त के अधीन होने से उसके मनोभिलषित करना स्वतः ही सिद्ध है। एवं 'हि' शब्द निश्चयतया अर्थ की युक्तता बताने के लिए है। क्योंकि भगवान के लिए ''सभी विषयों को त्यागकर (श्री.भा. १०/२९/३१)'' इत्यादि वाक्य की भाँति जो त्याग करते हैं उनके मनोरथ पूर्ण करना भी भगवान का कर्तव्य ही है। अतएव भगवान ने ''जो मेरे लिए लोक-धर्मों का त्याग कर देते हैं, उनका भरण मैं करता हूँ। (श्री.भा. १०/४६/४)'' इस श्लोक द्वारा कहा है। भरण करना कहा होने से, जिस प्रकार उनको स्वलीलादर्शन होते हैं वैसे ही कर के स्वरूपात्मिका-स्वलीला में ही अर्थात् स्वयं ही में स्थापित करेंगे, यह भाव है। टीकाकार यहाँ 'भरण' शब्द का विश्लेषण कर रहे हैं। वे कहते है, कि जो प्रभु भक्तों का सर्व प्रकार से भरण करते हैं उसका अर्थ यह है कि जिस प्रकार भक्त को उनकी लीला के दर्शन हों उस प्रकार, वैसा स्वरूपात्मक-लीला का भाव वे स्वयं में स्थापित कर, स्वरूपानंद का दान हमें देते हैं, यह अर्थ है। अर्थ से ही स्वयं के मनोरथ की अभिलाषा होती है, अन्यथा तो जलतरंग की भाँति उत्पन्न हुए दीन के मनोरथ सदा अपूर्ण ही रहते हैं, वैसे यहाँ श्रीमत्प्रभुचरणसेवा से ही भक्तमनोरथ की पूर्ति होती है अतः भक्तों के 'अर्थ'रूप भी भगवान ही सेव्य हैं, यह भाव है। जैसे धन बिना लौकिकरमण एवं भोग सिद्ध नहीं होते, वैसे यहाँ 'अर्थ' अर्थात् आदिदैविक लक्ष्मीप्रवेश अर्थात् स्त्रीभाव के बिना भगवद्रमण एवं भोग संभव नहीं होते। वह संपत्ति भी सेवा से संतुष्ट भगवान स्वयं में, स्वतः करेंगे ही तब श्रीमद्प्रभु के अनुग्रह से उस स्त्रीभाव की प्राप्ति होगी एवं इससे वह रमण-भोग संभव होंगे।

भगवद-आज्ञा से ही, एक भगवान की शरणागत उस लक्ष्मी की प्राप्ति होती है अतः भगवान ही अर्थरूप हैं। अतएव श्रीमत्प्राणेश्वर-श्रीगोकुलनाथ की वाणी के अधिपति अर्थात् श्रीमहाप्रभुजी ने फलप्रकरण में ''भगवद् आज्ञा'' से आदिदैविक लक्ष्मीजी सर्वत्र प्रविष्ट हुई'' यह कहा है। इस अर्थ के अत्यंत गोपनीय होने से सर्वसमर्थ इस पद से प्रभुचरणों ने परोक्षतया ही अर्थात् गुप्ततया ही प्रकट किया है अतः यह पर्याप्त लिखना हुआ। उन भगवान के चरणकमल के मकरंद का पान करने से मत्त हुए भक्तों के हृदय में प्रभुमुखचंद्र अर्थात् श्रीमहाप्रभुजी के उदय होने से भावरूपी समुद्रलहरों का प्रचार स्वयं ही हो जाएगा, यह भाव है ॥ २ ॥

एवमर्थस्वरूपमुक्त्वा कामस्वरूपं निरूपयन्ति यदि श्रीगोकुलाधीशेति ।

यदि श्रीगोकुलाधीशो धृतः सर्वात्मना हृदि ।
ततः किमपरं ब्रूहि लौकिकैर्वैदिकैरपि ॥ ३ ॥

श्रीगोकुलाधीशः सर्वात्मना यदि हृदि धृतस्ततो लौकिकैः लोकसम्बन्धिसुखैः वैदिकैरपि वेदोक्तकर्मजन्यैः स्वर्गादिसुखैरपि किमपरमस्ति ? न किमपीत्यर्थः । त्वं ब्रूहि । स्वं मानसमेव साक्षीकृत्योच्यते । यदीतिपदेन कस्यचिदेव परमभाग्यवतः कृतपुण्यपुञ्जस्याग्निकुमारीणामिव भावो भवतीति दुर्लभत्वं ज्ञाप्यते । गोकुलाधीशनाम्ना भगवतस्तदधीनत्वं ज्ञाप्यते । अत एव स्वःस्वा-मित्वाभिमानिभिरपीन्द्रादिभिर्भगवान् तत्पतित्वेनाभिषिक्तो, भगवन्मनोनुवृत्तिज्ञानेन । एतदेवोक्तं 'इति गोगोकुलपतिं गोविन्दमभिषिच्य स' इति । गोगोकुलोक्त्या गोप्यो, गोपा, गावश्चोच्यन्त इति भावः । तेन तासामधीशोतिरसिकः प्रेमरसज्ञश्च । अन्यथा पूर्णपुरुषोत्तमः कथं गोपीनां पशुतुल्यानां स्वयं प्रभुत्वमङ्गीकुर्यात् । तासां केवलं प्रेम्णैवाङ्गीकारात्स चेद्धृदि तद्योग्यस्वरूपभावेन धृतस्तदा

तथैवाङ्गीकुर्यादेवेति गोकुलाधीशनाम्ना द्योत्यते । सर्वात्मना सर्वथा सर्वभावेन कामभावेनेति यावत् । अत्र सर्वात्मपदं कामपरमेव । यथा व्रजभाग्यरूपाणां सर्वात्मभावः कामभावात्मक एव, अत एवोक्तं 'गोप्यः कामा'दिति । तथास्मिन्नाचार्यप्रकटितपुष्टिमार्गे तादृक्प्राप्ति-रेवोच्यते । स एव भाव उपदिश्यते । ता एव च गुरव इत्याचार्यैरेवोक्तं संन्यासप्रकरणे 'गोपिकाः प्रोक्ता गुरवः साधनं च तदि'ति । तेन सर्वात्मना कामभावेनेति भावः । अस्यात्यन्तं गोप्यत्वात्स्पष्टतया नोक्तम् । एवं प्रकारेण चेद्धृदि स्वयं धृतः । स्वधारणोक्त्या बलात्कारे-णैव 'मैवं विभोऽर्हती'त्यादिरीत्येति भावः । तता चेद्धृतस्तदा लौकिकैः पतिभिः वैदिकैः स्वर्गादिभिः, पुत्रादिभिर्वाऽपरं किं ? न किमपीत्यर्थः । अत एव लौकिकवैदिकत्यागपूर्वकं कामभावेन भजनं श्रीव्रजनाथप्राणवल्लभाभिरेवोक्तं 'सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तवे'ति, 'पतिसुतादिभिरार्तिदैः किम्' इत्यादिभिस्त्यागमुक्त्वा पश्चाद्भजनार्थमुक्तं 'तन्नो निधेही'त्यारभ्य 'तप्तस्तनेषु च शिरस्सु च किङ्करीणा'मित्यादिना । भगवतापि तथैवाङ्गीकाराज्ज्ञायते चास्यैव भावस्य प्राबल्यम् । तस्मादपरं न किमपीति भावः । त्वया चेज्ज्ञायते वा किमप्यपरं तदा ब्रूहि ।

इस प्रकार 'अर्थ' स्वरूप कहकर 'काम' स्वरूप **यदि श्रीगोकुलाधीशो** इन शब्दों से निरूपित कर रहे हैं।

यदि श्रीगोकुलाधीश को सर्वात्म भाव से हृदय में धारण किया है तो पश्चात् लौकिक अर्थात् लोकसंबंधीसुख एवं वैदिक भी अर्थात् वेदोक्तकर्मजनित स्वर्गादि सुख से भी दूसरा क्या अधिक है ? कुछ भी नहीं, यह अर्थ है। **त्वं ब्रूहि** अर्थात् स्वयं के मन को ही साक्षी कर कह रहे हैं। यदि इस पद से कोई ही परमभाग्यवान को ही किए पुण्यपुञ्ज अग्निकुमारिकाओं की भाँति ऐसा भाव होता है अतः इससे दुर्लभता कह रहे हैं। श्रीमहाप्रभु ने सुबोधिनी में इन अग्निकुमारिकाओं का वर्णन किया है कि ये कुमारिकाएँ प्राचीन काल में यज्ञकुंड में से प्रकट हुई थी एवं इन्हें प्रभु के प्रति पतिभाव था। इनके संचित पुण्यों के कारण ही इन्हें प्रभुप्राप्ति हुई थी। टीकाकार कह रहे हैं कि जैसे इन कुमारिकाओं को इतने पुण्य अर्जित करने के बाद ही बड़ी कठिनाई से प्रभु प्राप्त हुए अतः यह प्रसंग प्रभुप्राप्ति की दुर्लभता बता रहा है, यह अर्थ है। 'गोकुलाधीश' नाम से भगवान का उनके अधीन होना अर्थात् व्रजभक्तों के अधीन होना बता रहे हैं। अतएव स्वस्वामित्व के अभिमानी इंद्र ने भी भगवान के मनोनकूलवृत्ति के ज्ञान से उनका अभिषेक किया। विशेष जानकारी के लिए देखें श्रीमद् भागवत के दशमस्कंध का सत्ताईसवाँ अध्याय। वहाँ भी श्लोक संख्या क्रमशः २२, २३, २८ द्रष्टव्य हैं। यही ''इस प्रकार इंद्र ने गौ, गोकुलपति गोविंद का अभिषेक किया (श्री.भा. १०/२७/२८)'' इस वाक्य द्वारा कहा है। 'गोगोकुल' कहने से गोपियाँ, गोप एवं गायें कह रहे है, यह भाव है। इससे उन गोपिकाओं के अधीश अतिरसिक एवं प्रेमरसज्ञ हैं। अन्यथा स्वयं पूर्णपुरुषोत्तम पशुतुल्य गोपीयों का प्रभुत्व कैसे अंगीकार करें ? उन गोपियों को केवल प्रेम से ही अंगीकार किया होने से यदि प्रभु को योग्यभाव से धारण किया है तो वे उसी प्रकार अंगीकार करते ही हैं, यह **गोकुलाधीश** नाम से कह रहे हैं। **सर्वात्मना** अर्थात् सर्वथा सर्वभाव से अर्थात् कामभाव से। यहाँ 'सर्वात्म' पद कामपरक ही है। जिस प्रकार व्रज की भाग्यरूपा गोपिकाओं का सर्वात्मभाव कामभावात्मक ही है, अतएव ''गोपियों ने काम से (श्री.भा. ७/१/३०)'' यह कहा है। एवं हमारे आचार्य द्वारा प्रकटित पुष्टिमार्ग में वैसे सर्वात्मभाव की प्राप्ति ही कही है। वह भाव ही उपदिष्ट किया है। वही गुरु हैं, यह आचार्यचरणों ने ही संन्यासप्रकरण में ''गोपिकाएँ गुरु है एवं वही साधन (सं.नि./८)'' यह कहा है। अतः सर्वात्मना अर्थात् कामभाव से, यह भाव है। इस भाव के अत्यन्त गोपनीय होने से स्पष्टतया नहीं कहा है। इस प्रकार यदि प्रभु को हृदय में धारण किया तो लौकिक वैदिक कर्मों की क्या आवश्यकता है, यह भाव है। 'स्वयं को धारण करना चाहिए' यह कहने के द्वारा बलपूर्वक ''इस प्रकार निष्ठुरताभरे वाक्य नहीं कहने चाहिए (श्री.भा. १०/२९/३१; १०/२३/२९)'' इस प्रकार श्लोक में कही रीति से प्रभु को धारण करना चाहिए यह भाव है। टीकाकार प्रभु को किस प्रकार धारण करना चाहिए इसका स्पष्टीकरण दे रहे हैं। इसके लिए उन्होनें उपर्युक्त भागवत के श्लोकों का उदाहरण दिया है जहाँ प्रसंग यह है कि, जब गोपिकाएँ अपने काम-काज छोड़कर प्रभु के दर्शनार्थ पहुँच गई तब प्रभु ने निष्ठुरतापूर्वक वचन कहकर, उनकी दृढ़ता की परीक्षा लेने के लिए वापस घर लौट जाने को कहा। किंतु गोपिकाएँ बलपूर्वक वहीं रहीं एवं उन्होनें प्रभु से विमुख होनेवाली आज्ञा अस्वीकार कर दी। टीकाकार इसी को समझाते हुए यहाँ कहना चाह रहे हैं, कि जिस प्रकार गोपिकाओं का बलपूर्वक-निष्ठापूर्वक वहीं रहने का निर्णय उन्हें प्रभुमिलन करानेवाला सिद्ध हुआ उसी प्रकार यहाँ भी वैसे ही बलपूर्वक प्रभु को हृदय में धारण करना चाहिए, यह भाव है। वैसे यदि धारण करें तो **लौकिकैः** अर्थात् पतियों से, **वैदिकैः** अर्थात् स्वर्गादि से अथवा पुत्रादि से भी दूसरा महत्वपूर्ण क्या है ? कुछ भी नहीं, यह अर्थ है। अतएव लौकिकवैदिक त्यागपूर्वक श्रीव्रजनाथ की प्राणप्यारी गोपिकाओं ने कामभाव से भजन कहा है; ''सभी विषयों को छोड़कर आपके चरणकमल (श्री.भा. १०/२९/३१)'' ''पीड़ादायक पतिपुत्र द्वारा क्या? (श्री.भा.१०/२९/२३)'' इत्यादि वाक्यों से त्याग कहकर पश्चात् भजन के लिए ''इसलिए हम पर श्रीहस्त रखिए (श्री.भा.१०/२९/४१)'' यहाँ से आरंभ कर ''किंकरियों के तप्त वक्षस्थल एवं सिर पर (श्री.भा. १०/२९/४१)'' यह कहा है। एवं भगवान ने भी उसी प्रकार अंगीकार किया होने से इसी भाव की प्रबलता ज्ञापित होती है। अतः इस भजन के अतिरिक्त दूसरा कुछ भी अधिक नहीं है। तुम यदि जानते हो या दूसरा कुछ है तो कहो।

यद्वा, गोपदमिन्द्रियवाचकं, तेनेन्द्रियकुलस्य प्रभुः सर्वात्मना पूर्वोक्तकामभावेन हृदि मनसि सर्वेन्द्रियाधिष्ठातरि यदि धृतस्ततो लौकिकैः पतिभिः किं ? न किमपीत्यर्थः । अत्रायं भावः । यदि भगवान् धृतस्तदा सर्वाणीन्द्रियाणि भगवत्पराणि भवन्ति, तदैव च जन्मेन्द्रियसाफल्यम् । तदेवोक्तं व्रजवरवरणीयाभि'रक्षण्वतां फल'मितिपद्ये । श्रीमदुद्धवैश्च 'किं ब्रह्मजन्मभि'रिति तासां भावदर्शनेनान्य-जन्मवैफल्यमुक्तम् । तस्मादेवं यदि प्रभुर्धृतस्तदाऽपरं लौकिकैः पतिभिः किं भविष्यति न किमपीति भावः । वैदिकैरिति पतिविशेषणम् । वेदोक्तैरपि लौकिकैः किमिति । अयमर्थः । वेदे पतिभजनेन मोक्षः स्यादित्युक्तं, तत्तु संप्राप्तदेहेन्द्रियाणामसम्बद्धतरम् । अत एवोक्त-माचार्यैः 'इदमेवेन्द्रियवतां फलं मोक्षोपि नान्यथा । यथान्धकारे नियता स्थितिर्नाक्ष्णोः फलं भवेत् । एवं मोक्षोपीन्द्रियादियुक्तानां सर्वथा न हि' । तस्मात्तैः किं ब्रूहि ? पूर्वपक्षिणं प्रत्युच्यतेऽपरमपि किं तैरिति जानासि चेत्तदा ब्रूहि ।

अथवा, 'गो' पद इंद्रियों का वाचक है। इससे इंद्रियकुल के सर्वइंद्रियों के अधिष्ठाता प्रभु **सर्वात्मना** अर्थात् कामभाव से **हृदि** अर्थात् मन में यदि धारण किए हैं तो **लौकिकैः** अर्थात् पति से क्या प्रयोजन है ? कुछ भी नहीं, यह अर्थ है। यहाँ यह भाव है कि यदि भगवान धारण किए हैं तब सभी इंद्रियाँ भगवत्पर होती हैं, तभी जन्म एवं इंद्रियों की सफलता है। वही, व्रज में श्रेष्ठ प्रभु ने जिन का वरण किया है ऐसे श्रीगोपीजनों ने ''नेत्रधारियों का यह फल है (श्री.भा. १०/२१/७)'' इस पद्य में कहा है। एवं श्रीमद् उद्धव ने ''ब्रह्मा के जन्म द्वारा क्या? (श्री.भा.१०/४७/५८)'' इस वाक्य द्वारा उन गोपीजनों के भावदर्शन से अन्य जन्म की विफलता कही है। अतः इस प्रकार यदि प्रभु धारण किए हैं तब दूसरा अर्थात् लौकिक पतियों से क्या होगा ? कुछ भी नहीं, यह भाव है। **वैदिकैः** पद 'पति' का विशेषण है। टीकाकार के अनुसार मूलपंक्ति में 'लौकिकैर्वैदिकैरपि' पद में 'वैदिकैः' इस पद को 'पति' शब्द का विशेषण माना जा सकता है। इसके अनुसार अर्थ ''वैदिकपति से भी क्या ?'' यों बनेगा। 'वैदिकपति' से तात्पर्य क्या है, इसे वे आगे बता रहे हैं। इसका यह अर्थ है कि वेद में पतिभजन से मोक्ष प्राप्त होता है, यह कहा है किंतु वह मोक्ष तो प्राप्त देहेन्द्रियों से असंबंधित है। अर्थात् वह लौकिक मोक्ष तो इंद्रियों को प्रभु में विनियोग करने पर प्राप्त होते अलौकिक सुख एवं उससे होती इंद्रियों की सफलता के आगे तुच्छ है, यह भाव है। अतएव वैदिक पतिभजन भी इस अलौकिक प्रभुसुख के आगे गौण ही हो जाता है, यह टीकाकार कहना चाह रहे हैं। अतएव आचार्यचरणों ने 'इंद्रियवानों का यही फल है अन्यथा मोक्ष भी नहीं। जिस प्रकार अंधकार में रहने पर नेत्रों को फल प्राप्त नहीं होता, इस प्रकार इंद्रियादि से युक्तों को निश्चय ही मोक्ष भी फलदायी नहीं होता (१०/२१/७ सुबोधिनी)। अतः इन लौकिकवैदिक कार्यों को करने का क्या प्रयोजन है ? कहो ? पूर्वपक्षी के प्रति कह रहे हैं - उनसे दूसरा क्या है ? यदि जानते हो तो कहो।

ननु भगवदप्राप्तिसमये लौकिकेष्वेव संबन्धात्कामस्य च बलिष्ठत्वात्कदाचित्तेषु मनश्चलति तदा तत्कृतमप्यकृतं भवति ततो वेदानुसारेणैव करणमुचिततरमिति चेत् । न । भगवन्निवेशितमनसां सर्वथान्यत्र कामो न संभवत्येवेति श्रीव्रजकुमारिकाकामपूर-णपारिजातचरणेन श्रीनन्दकुमारेणवोक्तं 'न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते' इति । यद्वा, लौकिकैरपि दृश्यादिगुणैरपि, सर्वात्मना कामभावेन वा वैदिकैर्व्रजेन्द्रदिङ्मुखालङ्करणमुखचन्द्राभिरुक्तधर्मैः 'चूतप्रवालबर्हस्तबकोत्पलाब्जे'त्यादिभिर्यदि श्रीगोकुलाधीशो धृतस्ततोऽपरं किं, न किमपीति भावः । एवं सर्वप्रकारैरपि कामभावेन प्रभुरेव सेव्य इति भावः ॥ ३ ॥

यहाँ शंका होती है कि भगवान की प्राप्ति न होने के समय में लौकिक में ही संबंध होने से एवं काम के बलिष्ठ होने से कदाचित् उनमें मन चलायमान होता है तब उसका किया हुआ न किया हो जाता है, इससे तो वेदानुसार ही करना उचिततर है ? यहाँ उठी शंका को समझें। टीकाकार पूर्व सभी लौकिक /वैदिक कर्मकांड, मर्यादाओं का गौण कह कर भजन की मुख्यता सिद्ध करते चले आए हैं। उन्होंनें कहा कि यदि वैदिक कर्म न निभ रहे हों किंतु भगवद्-भजन निभ रहा हो तों कोई हानि नहीं। यहाँ शंका यह उठी कि, चित्त तो चलायमान है। लौकिक में, आत्मसंबंधियों में कामना रहती ही हैं तब तो 'सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तवपादमूलं' की भाँति न रहा जा सकेगा। तब क्या सब कियाधरा व्यर्थ न हो जायेगा ? इससे अच्छा तो वैदिककर्मों से जुड़े रहना है, कम से कम वह फलप्राप्ति तो होगी ही, यह अर्थ है। इस शंका का समाधान वे आगे किए दे रहे हैं। नहीं। भगवान में निविष्ट मनवालों को अन्यत्र काम सर्वथा संभव नहीं होता अतः श्रीव्रजकुमारिकाओं के कामपूरक, कल्पवृक्षसम-श्रीनंदकुमारचरणों ने ''मुझमें आविष्ट बुद्धिवालों का काम, लौकिक काम की ओर समर्थ नहीं होता (श्री.भा. १०/२२/२६)'' यह कहा है। अथवा, **लौकिकैरपि** अर्थात् दृश्यादि गुणों से भी, **सर्वात्मना** अर्थात् कामभाव से अथवा **वैदिकैः** अर्थात् आम्र की नई कोंपल, मोरपंख, नीलकमल, कुमुदमाला (श्री.भा. १०/२१/८)'' इत्यादि वाक्य द्वारा कहा होने के कारण ''यदि श्री गोकुलाधीश धारण किए हैं, पश्चात् दूसरा क्या है ? कुछ भी नहीं, यह अर्थ है। इस प्रकार, सभी प्रकार द्वारा भी, कामभाव से प्रभु ही सेव्य है, यह भाव है ॥ ३ ॥

कामस्वरूपमुक्त्वा मोक्षस्वरूपमाहुः ततः सर्वात्मनेति ।

ततः सर्वात्मना शश्वद् गोकुलेश्वरपादयोः ।
स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यमिति मे मतिः ॥ ४ ॥

ततः कामभावात्मकभक्त्यनन्तरम्, पुनः **सर्वात्मना** सर्वात्मभावेन, **शश्वत्** निरन्तरं, **गोकुलेश्वरपादयोः स्मरणं** तथैव **भजनमपि न त्याज्यमिति मे** मम मदीया **मतिरित्यर्थः** । अत्रायमाशयः । कामभावेन भगवत्सम्बन्धानन्तरं तत्सबन्धस्वभावमर्यादा-जनिततुल्यत्वप्रमदात्वमदेनान्यथाभावे सति मानादिना दोषभावेन तद्भावाच्युतिः स्यात् । ततः सर्वात्मभावेन भजनमेव कार्यमिति भावः । **शश्वदि**तिपदेन क्षणमप्यन्यथाकरणे सर्वथाऽसुरप्रवेशः स्यादिति ज्ञाप्यते । **गोकुलेश्वरनाम्ना** यथा तेषां सर्वभावप्रपत्त्या सन्तुष्टश्चातुर्यादिरहितेष्वपि स्वामित्वमङ्गीकृतवान्, तथात्रापि तवापि करिष्यतीति ध्वन्यते । पादेषु द्वन्द्वकथनेन श्रीस्वामिनीपादसाहित्यं ज्ञाप्यते । **स्मरण**पदेन स्मरणं चेतसो धर्म इति चित्ते भगवद्विप्रयोगसमये स्मरणमिति भावः । अन्यथा तद्विप्रयोगस्यातितीक्ष्णत्वेन जीवनमेव न स्यादिति भावः । **भजनं** सेवा, सापि निरन्तरं तथैवेति भावः । **च**कारेण भजनं चित्तपूर्वकमेव कर्तव्यमिति भावः । **अपि**शब्देन भगवान् भजतु वा मा भजतु, स्वस्य भजनीय एवेति भावः । अत एव श्रीगोकुलाधीशरतिमार्गाब्जमार्तण्डायितपादपद्मैः श्रीविट्ठलनाथैरगादि, 'मारणे वरणे कापि दासीनां नाप्रभुर्गतिरि'ति । अर्थमेवार्थः स्वयं **न त्याज्यमिति** स्वकरणकात्यागोक्त्या ज्ञाप्यते इति भावः । **मे मतिरिति** स्वमतिकथनेन स्वानुभवः प्रदर्शितः[1]। भक्तिमार्गे भक्तिरेव परमपुरुषार्थः । मोक्षादप्यधिकत्वं भक्तेः सिद्धमेव तस्मात्पुष्टिमार्गे मोक्षरूपत्वं च भजनस्यैवेति भजनमेव निरूपितम् । भक्तेर्मोक्षाधिकत्वं तु श्रीभागवते बहुधैवोक्तम् । तथा हि 'सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्ये'त्यारभ्य 'विना मत्सेवनं जना' इत्यन्तं; 'स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिन' इति **च** । 'वीक्ष्यालकावृते'त्यारभ्य 'भवाम् दास्य' इत्यन्तेन पद्येन च । तेन **भजनं** सेवा मोक्षाधिका सैव कर्त्तव्येति भावः । मोक्षनिरूपणे भजनस्य स्वकरणकात्यागोक्त्या पूर्वोक्तधर्मादित्रयकरणेन भगवान् स्ववशे भवतीति ज्ञाप्यत इति भावः । एवं मोक्षस्वरूपनिरूपणे स्वमतित्वकथनेन स्वीयानामेव कर्तव्यमिति भावो ज्ञापितः ॥ ४ ॥

इति श्रीगोकुलाधीशवागधीशमुखच्युतम् ।
स्वमार्गधर्मार्थकाममोक्षाणां रूपमद्भुतम् ॥ १ ॥
तत्पादपद्मकृपया विवृतं हि यथामति ।
तेनाचार्या मयि ज्ञात्वा स्वीयतां कृपयन्तु वै ॥ २ ॥
यत्पदाब्जमरन्दालिभावस्तुच्छीकरोति वै ।
मुक्तिं तच्चरणाम्भोजरेणुर्मह्यं प्रसीदतु ॥ ३ ॥
श्री विट्ठलपदाम्भोजरेणुसङ्गाङ्किणा मया ।
स्वाचार्योक्ता चतुःश्लोकीं निर्णीतेयं यथामति ॥ ४ ॥
इति श्रीव्रजवधूप्राणेशपादपद्मात्मकपुष्टिमार्गचकोरनेत्रानन्दश्रीवल्ल-
भाचार्योक्तचतुःश्लोकीविवृतिर्भावरसदीपिका
श्रीश्यामलतनुजव्रजराजकृता
सम्पूर्णतामगात् ॥

कामस्वरूप कहकर, मोक्ष स्वरूप **ततः सर्वात्मना** इस पद से कह रहे हैं।

ततः अर्थात् कामभावात्मक भक्ति के पश्चात् पुनः **सर्वात्मना** अर्थात् सर्वात्मभाव से, **शश्वत्** अर्थात् निरंतर, गोकुलेश्वर के चरणकमलयुगलों का स्मरण, उसी प्रकार भजन भी त्याज्य नहीं है **इति मे** अर्थात् यह मेरी मति है, यह अर्थ है। यहाँ यह आशय है कि कामभाव से भगवद्-संबंध होने के पश्चात् उस संबंध के स्वभाव की मर्यादा ऐसी भी हो सकती है कि जिससे हम प्रभु से अपनी बराबरी भी करने जाएँ एवं हमारे भीतर स्त्रीत्व का मद उत्पन्न होकर अन्यथा भाव भी आ जाय। ऐसे मद में प्रभु के माहात्म्यज्ञान को भूलकर जीव प्रभु से भी मानादि रखकर दोषग्रस्त हो जाता है एवं उसका भावपतन हो सकता है। अतः सर्वात्मभाव से ही भजन करना चाहिए, केवल कामभाव से भजन नहीं करना चाहिए यह भाव है। **शश्वत्** इस पद से क्षणभर भी अन्यथा करने पर सर्वथा आसुरप्रवेश होता है, यह ज्ञापित कर रहे हैं। **गोकुलेश्वर** नाम से, जिस प्रकार उनके सर्वभाव रूप शरणागति से संतुष्ट होकर ऐसे भोलेभाले वृजजनों का भगवान् ने स्वामित्व अंगीकार किया, वैसे यहाँ तुम्हारा भी करेंगे, यह ध्वनित होता है। 'चरणयुगल' कहने से 'श्रीस्वामिनीचरणसहित' यह ज्ञापित

१ भजतु वा मा भजतु इति ।

कर रहे हैं। **स्मरण** पद से 'स्मरण चित्त का धर्म है' इससे भगवद्-विप्रयोग के समय में चित्त में स्मरण करना चाहिए, यह भाव है। अन्यथा उस विप्रयोग के अति तीक्ष्ण होने से जीवन जीना ही संभव न होगा, यह भाव है। **भजनं** अर्थात् सेवा, वह भी निरंतर उसी प्रकार करनी चाहिए, यह भाव है। चकार से भजन चित्तपूर्वक ही करना चाहिए, यह भाव है। **अपि** शब्द से भगवान भजें कि न भजें, स्वयं को तो भजना ही चाहिए, यह भाव है। अतएव श्रीगोकुलाधीश में प्रेम मार्गरूप कमल को खिलानेवाले सूर्य श्रीविट्ठलनाथचरणकमलों ने, ''मारने में या वरण करने में, हम दासियों की गति तो प्रभु ही हैं (विज्ञप्ति २/१) यह कहा है। स्वयं यही अर्थ **न त्याज्यं** अर्थात् ''स्वयं के द्वारा किए गये साधन त्यागने नहीं चाहिए'' यह कहने के द्वारा बता रहे हैं, यह भाव है। **मे मतिः** यह स्वमति कथन द्वारा स्वयं का अनुभव प्रदर्शित किया है। भक्तिमार्ग में भक्ति ही परमपुरुषार्थ है। भक्ति की मोक्षादि से भी अधिकता सिद्ध ही है। अतः पुष्टिमार्ग में मोक्षरूप 'भजन' ही है अतः भजन ही निरूपित किया है। भक्ति की मोक्ष से अधिकता तो श्रीभागवत में बहुधा ही कही है। वह इस प्रकार ''सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य (श्री.भा. ३/२९/१३)'' यहाँ से आरंभ कर ''बिना मेरी सेवा के (श्री.भा.३/२९/१३)'' यहाँ तक एवं ''स्वर्ग, मोक्ष एवं नरक में भी समानरूप से (श्री.भा. ६/१७/२८)'' यह कहा है। एवं ''लटों से आवृत्त मुख को देखकर'', यहाँ से आरंभ कर ''आपका दास्य (श्री.भा. १०/२९/३९)'' इस पद्य से कहा है। इससे **भजनं** अर्थात् सेवा, मोक्ष से अधिक है अतः वही करनी चाहिए, यह भाव है। मोक्ष के स्वरूपनिरूपण में भजन को 'अपने साधनों द्वारा न त्यागना' कहा होने के कारण पूर्व में कहे तीन धर्म करने से भगवान स्ववश में होते हैं, यह ज्ञापित कर रहे हैं, यह भाव है। इस प्रकार मोक्ष के स्वरूपनिरूपण में स्वमति के कथन से, ''स्वीयों को ही करना चाहिए'' यह भाव ज्ञापित होता है ॥ ४ ॥

यह श्रीगोकुलाधीश-वाक्पति के मुख से प्रकट
स्वमार्गीय धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष का अद्भुत रूप है ॥ १ ॥
निश्चय ही, उनके चरणकमल की कृपाद्वारा यथामति विवृति की है।
अतः आचार्यचरण मुझे अपना जानकर कृपा करें ॥ २ ॥
जिनके चरणकमल के मधु का भ्रमरभाव मुक्ति को
तुच्छ करता है, वह चरणकमलरेणु मुझपर प्रसन्न हो ॥ ३ ॥
श्री विट्ठलचरणकमलरेणु की आकांक्षी, मेरे द्वारा
स्वाचार्य द्वारा कही यह चतुःश्लोकी यथामति निर्णीत की गई ॥ ४ ॥

यह श्रीव्रजवधू के प्राणेश के चरणकमलात्मक पुष्टिमार्ग के चकोर अर्थात् स्वयं टीकाकार के नेत्रों को आनंद देनेवाले चंद्रस्वरूप श्री वल्लभाचार्य द्वारा कही चतुःश्लोकी की श्री श्यामलतनुज व्रजराजकृत 'भावरसदीपीका' संपूर्ण हुई।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

चतुःश्लोकी ।

श्रीवल्लभप्रकटितप्रकाशसमेता ।



श्रीमद्वल्लभनाथचरणसरोरुहरेणुभ्यो नमो नमः ।

श्रीकृष्णाऽऽस्याचार्यवर्याङ्घ्रिपद्मरेणून्नत्वा भक्तितो यद्वचोर्थाः ।

दुर्विज्ञेया यत्प्रसादं विनातस्तद्वाक्यार्थं तत्प्रसादाद्विवव्रे ॥ १ ॥

लोके पदार्थाश्चत्वारो धर्मार्थस्मरमुक्तयः ।

स्मृत्युक्तसाधनैर्लभ्याः पूजामार्गानुसारतः ॥ २ ॥

तत्र प्रतिज्ञा नो मुक्तिर्विना ब्राह्मणदेहतः ।

भूतशुद्ध्या विनिर्वाहः साङ्गोपाङ्गः स्वमन्त्रतः ॥ ३ ॥

चेत्तदाप्यक्षरप्राप्तिरूपा मुक्तिर्भवेत् क्वचित् ।

अतो निःसाधनानां यद्वृथा जन्म तदा भवेत् ॥ ४ ॥

तदर्थं श्रीहरिः साक्षात्स्वास्यवह्निं स्ववाक्पतिम् ।

चकार प्रकटं लोके श्रीवल्लभमिलातले ॥ ५ ॥

तैरेव श्रीमदाचार्यैः पुष्टिमार्गानुगामिनाम् ।

स्वसिद्धान्तावबोधार्था चतुःश्लोकी निरूपिता ॥ ६ ॥

यस्याः पूर्वपदार्थेभ्यः पृथग्धर्मादितुर्यकम् ।

सत्वरं बुध्यते तस्या विवृतिः क्रियते मया ॥ ७ ॥

श्रीमद्वल्लभनाथचरणकमलरेणु को नमस्कार/नमन

श्रीकृष्ण के मुखस्वरूप श्रीवल्लभाचार्यवर्य के चरणकमलरेणु को भक्ति से नमन कर जो वचनार्थ ।

जिनके प्रसाद बिना दुर्विज्ञेय हैं अतः उनके वाक्यार्थ उनके प्रसाद द्वारा कह रहा हूँ ॥ १ ॥

पूजामार्गानुसार, स्मृति में कहे साधनों द्वारा प्राप्त

लोक में धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष ये चार पदार्थ कहे गये हैं ॥ २ ॥

वहाँ भी प्रतिज्ञा 'ब्राह्मण-देह बिना मुक्ति नहीं है' ऐसी है।

स्वमंत्र द्वारा विधिपूर्वक भूतशुद्धि से विनिर्वाह है ॥ ३ ॥

यदि मुक्ति है तब भी कभी अक्षरब्रह्म प्राप्तिरूपा मुक्ति होती है।

अतः जो निःसाधन हैं उनका जन्म तब व्यर्थ हो जाता है ॥ ४ ॥

इसलिए श्रीहरि ने साक्षात् स्वमुखाग्नि एवं स्वयं के वाक्पति

'श्रीवल्लभ' भूलोक में प्रकट किए ॥ ५ ॥

उन्हीं श्रीमदाचार्यों ने पुष्टिमार्गानुगामियों को

स्वसिद्धांत-बोध कराने वाली 'चतुःश्लोकी' निरूपित की ॥ ६ ॥

जिस चतुःश्लोकी से पूर्व में कहे मार्यादिक धर्मार्थकाममोक्ष पदार्थ से पृथक पुष्टिमार्गीय धर्मादिचतुष्यटय

शीघ्र समझ आ जाते हैं, उसकी विवृति मेरे द्वारा की जा रही है ॥ ७ ॥

श्रीमदाचार्यचरणाः स्वीयानां स्वमार्गीयपुरुषार्थचतुष्टयज्ञापनार्थं स्वसिद्धान्तचतुःश्लोकीं निरूपयितुकामास्तत्र प्रथमं

प्रथमं पुरुषार्थमनुष्टुप्छन्दसाहुः सर्वदा सर्वभावेनेत्यादि ।

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः ।
स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः क्वापि कदाचन ॥ १ ॥

व्रजाधिपः पूर्णपुरुषोत्तमः सच्चिदानन्दो भजनीयः सेवनीय इत्यर्थः । पुष्टिमार्गीयैरित्यध्याहार्यम् । तदेवोक्तं श्रीमदाचार्यचरणैः* श्रीभागवतदशमस्कन्धे जन्मप्रकरणविवरणे 'निःसाधनफलात्मायं प्रादुर्भूतोस्ति गोकुले । अतो वयं सुनिश्चिन्ता जाताः सर्वत एव ही'त्युक्तैर्निःसाधनानां कृते भगवतः पुरुषोत्तमस्य प्रादुर्भावः सिद्धः । स एव निःसाधनैर्जीवैर्दैवसृष्टचुत्पन्नैः सेव्य इतिभावः । अथ स तैः कथं सेवनीय इत्याहुः **सर्वभावेनेति** । सर्वैर्देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणादिभिः कृतो यो भावः सर्वात्मभावस्तेन सेव्यः । एतदुक्तं भवति । देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणस्त्रीपुत्रधनगृहादिकं सर्वं भगवत एव न ममेत्येवंभूतो यो भावः स संसारनिवर्तकः, तस्मिन् सति जीवे निश्चिन्तता भवति । एवं सति मुक्त एव भगवन्मयो भवति । तदुक्तं भक्तिवर्द्धिन्यां 'गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते । यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि' । तेन सर्वात्मभावोयमेव दैवजीवस्य मुख्यो धर्मः कर्तव्य इत्यर्थः । तदुक्तं श्रीभागवते एकादशस्कन्धे 'केवलेन हि भावेन गोप्यो गावः खगा मृगाः । येन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामीयुरञ्जसा' । नन्वयमपि सर्वथा धर्मान्तरवदेककालीनो वैकदेशीयो धर्मो भविष्यतीत्याशङ्कानिरासायाहुः **नान्यः क्वापि कदाचनेति** । **अन्यो**स्मदुपदिष्टधर्मात्पुष्टिमार्गीयाद्विरुद्धः पूजामार्गीयो यो धर्मः स न वैष्णवानां कार्यसाधकः, किन्तु बाधकः विभूतिपर्यवसायित्वात् । **क**शब्देन देशकालयोरपि धर्मविपर्यासौ दृष्ट्वा तत्राप्ययमेव धर्म आत्मीय इति मन्तव्यम् । **कदाचने**तिशब्देन कालान्तरेप्यस्य धर्मस्य त्यागो न विधेय इतिभावः । **सर्वदेति** सर्वकालं निरन्तरं **भजनीय** इत्यर्थः ॥ १ ॥

*यहाँ टीका में निःसाधनफलात्मायं..... इस श्लोक के लिए श्रीमदाचार्यचरण द्वारा रचित कहा गया है किंतु वास्तव में यह श्रीगुसाईंजी की टिप्पणी है।

श्रीमदाचार्यचरण, स्वीयों को स्वमार्गीय चार पुरुषार्थ बताने के लिए स्वसिद्धांतरूपचतुःश्लोकी निरूपित करने के लिए वहाँ प्रथमतया स्वधर्माचरणरूप प्रथमपुरुषार्थ अनुष्टुपछंद से **सर्वदा सर्वभावेन** इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं।

व्रजाधिपः अर्थात् पूर्णपुरुषोत्तम सच्चिदानंद **भजनीयः** अर्थात् सेवनीय हैं, यह अर्थ है। 'पुष्टिमार्गीयों द्वारा' यह अध्याहार करना चाहिए। वही श्रीमदाचार्यचरणों द्वारा श्रीभागवत दशमस्कंध में, जन्मप्रकरण विवरण में ''निःसाधनों के फलात्माप्रभु इस गोकुल में प्रकटे हैं अतः हम चहुँ ओर से सुनिश्चिंत हो गये हैं (टि. १०/५/२८)'' यह कहा है; इस उक्ति से निःसाधनों के लिए भगवान-पुरुषोत्तम का प्रादुर्भाव सिद्ध है। वह ही निःसाधनजीवों द्वारा-दैवीसृष्टि में उत्पन्नों के द्वारा सेव्य हैं, यह भाव है। अब, वह उनके द्वारा कैसे सेवनीय हैं ? यह **सर्वभावेन** इन शब्दों से कह रहे हैं। सभी देह-इंद्रिय-प्राण-अन्तःकरण आदि द्वारा किया गया जो भाव अर्थात् सर्वात्मभाव है, उसके द्वारा सेव्य हैं। यह कहा है। ''देह-इंद्रिय-प्राण-अन्तःकरण-स्त्री-पुत्र-धन-गृहादि सभी भगवान के हैं, मेरे नहीं'' ऐसा जो भाव है, वह संसारनिवर्तक है, वह होने पर जीव में निश्चिंतता होती है। ऐसा होने पर वह जीव मुक्त ही अर्थात् भगवद्मय हो जाता है। वह 'भक्तिवर्द्धिनी' में ''गृहस्थों में बाधकत्व एवं अनात्मत्व भासित होता है। जब कृष्ण में व्यसन होता है निश्चित ही तभी कृतार्थ होता है (भ./५)'' यह कहा है। इससे यही सर्वात्मभाव दैवीजीवों का मुख्य धर्म अर्थात् कर्तव्य है, यह अर्थ है। वह श्रीभागवत एकादशस्कंध में ''गोपियाँ, गायें, पशुपक्षी, कालियानाग एवं अन्य मूढ़बुद्धिवालों ने केवल भाव से ही मेरी प्राप्ति कर ली (श्री.भा. ११/१२/८)'' इस वाक्य से कहा है। यहाँ शंका करते हैं, कि यह धर्म भी अन्य धर्मों की भाँति सर्वथा एककालीन अथवा एकदेशीय होंगे ? इस शंका के निरास के लिए **नान्यः क्वापि कदाचन** इन शब्दों से कह रहे हैं। **अन्यः** अर्थात् हमारे उपदिष्ट धर्म से अर्थात् पुष्टिमार्गीय धर्म से विरुद्ध पूजामार्गीय जो धर्म है, वह वैष्णवों का कार्यसाधक नहीं है, किंतु विभूति पर्यवसायी होने से बाधक है। **'क'** शब्द से देश एवं काल में इस धर्मवैपरीत्य को देखकर वहाँ भी यही आत्मीय धर्म है, यह मानना चाहिए। **कदाचन** इस शब्द से कालान्तर में भी इस धर्म का त्याग नहीं करना चाहिए, यह भाव है। **सर्वदा** इस पद से सर्वकाल अर्थात् निरंतर भजनीय हैं, यह अर्थ है ॥ १ ॥

एवं प्रथमपुरुषार्थं पुरुषोत्तमसेवनरूपं पुष्टिमार्गानुसारिधर्मं निरूप्यातः परं द्वितीयपुरुषार्थमर्थरूपं निरूपयन्तीत्याहुरेवमिति ।

एवं सतां स्म कर्तव्यं स्वयमेव करिष्यति ।
प्रभुः सर्वसमर्थो हि तेन निश्चिन्ततां व्रजेत् ॥ २ ॥

एवममुना प्रकारेण स्वधर्माचरणरूपे प्रथमपुरुषार्थे सम्यक्तया निर्णीते तदनन्तरं विश्वासयुक्तहृदयेन स्वनुष्ठिते च सति, कालानवच्छेदेन स्मर्तव्यः । वैष्णवैरिति शेषः । हीति निश्चितम् । सतां वैष्णवानामैहिकं पारलौकिकं च सर्वकार्यं स्वयमेव विनैव

प्रार्थनेन करिष्यति, सर्वथा सम्पादयिष्यति स्म । कुतः स प्रभुरिति, यतोसौ सर्वसमर्थः स्वतन्त्रश्च । कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थो हरिरेव । अतो वैष्णवानां चिन्ताकरणं व्यर्थमेवेतिभावः । उक्तं च 'भोजने छादने चिन्तां वृथा कुर्वन्ति वैष्णवाः । योसौ विश्वम्भरो देवः स किं भक्तानुपेक्ष्यत' इति । अतोत्र भगवद्भक्तस्तेन भगवदीयानामैहिकामुष्मिकमनोरथानां भगवतः स्वयमेव कर्तव्यरूपेण हेतुना निश्चिन्ततां व्रजेत् प्राप्नुयादित्यर्थः । यथोक्तं दशमस्कन्धे 'तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद् भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः । त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो' इति ॥ २ ॥

इस प्रकार पुरुषोत्तमसेवनरूप प्रथमपुरुषार्थ पुष्टिमार्गानुसारी 'धर्म' निरूपित कर पश्चात् द्वितीय पुरुषार्थरुप 'अर्थ' **एवम्** इस शब्द से निरूपण कर रहे हैं।

एवम् अर्थात् इस प्रकार से स्वधर्माचरणरूप प्रथमपुरुषार्थ भलीभाँति निर्णीत होने पर एवं इसके पश्चात् विश्वासयुक्त हृदय से स्वयं के द्वारा अनुष्ठित होने पर काल-अनवच्छेद अर्थात् काल से न बंधा हुआ होने के कारण, 'स्मरण' करना चाहिए। 'वैष्णवों द्वारा' यह शेष रह जाता है अतः जोड़ लेना चाहिए। निश्चित-अर्थ में 'हि' शब्द का प्रयोग है। **सतां** अर्थात् वैष्णवों के ऐहिक एवं पारलौकिक सभी कार्य **स्वयमेव** अर्थात् प्रार्थना बिना ही करेंगे अर्थात् सभी प्रकार से संपादित करेंगे, यह प्रसिद्ध है। क्यों करेंगे ? क्योंकि वे प्रभु हैं। क्योंकि वह **सर्वसमर्थ** एवं स्वतंत्र हैं। करने, न करने, अन्यथा करने में हरि ही समर्थ हैं। अतः वैष्णवों को चिंता करनी व्यर्थ ही है, यह भाव है। एवं ''भोजन-वस्त्र की चिंता वैष्णव वृथा करते हैं। यह जो विश्वंभरदेव है, क्या भक्तों को उपेक्षा करता है ?'' यह कहा है। अतः यहाँ भगवद्भक्त को इससे, ''भगवदीयों के लौकिक-पारलौकिक मनोरथों को भगवान स्वयं ही कर्तव्यरूप से करेंगे, इस हेतु से **निश्चिंततां व्रजेत्** अर्थात् निश्चिंतता प्राप्त करनी चाहिए, यह अर्थ है। जिस प्रकार दशमस्कंध में ''हे माधव ! आपसे हृदयबद्ध कभी मार्गभ्रष्ट नहीं होते । आपसे रक्षित, विघ्नकर्ताओं के मस्तक पर पैर रखकर निर्भय विचरण करते हैं (श्री.भा. १०/२/३३)'' इस वाक्य से कहा है ॥ २ ॥

एवं भगवत्प्रमेयबलं वैष्णवानां समस्तकार्यसाधकमर्थरूपं द्वितीयं पुरुषार्थं निरूप्यातः परं कामरूपं तृतीयं पुरुषार्थं निरूपयन्ति यदीति ।

यदि श्रीगोकुलाधीशो धृतः सर्वात्मना हृदि ।
ततः किमपरं ब्रूहि लौकिकैर्वैदिकैरपि ॥ ३ ॥

हे मनुज यदि स्वहृद्यन्तःकरणे सर्वात्मना सर्वात्मभावेन श्रीगोकुलाधीशः प्रभुः स्थापितस्तदा ततः श्रीगोकुलाधीशात्पूर्णपुरुषोत्तमादपरमन्यत्सर्वस्मादत्युत्कृष्टं भक्तानां सर्वकामपूरकं वस्तु किमप्यस्ति तर्हि ब्रूहि कथय । लौकिकैर्लौकिकसाधनसिद्धियुक्तैर्वचनैस्तथा वैदिकैर्वैदिकयागादिसाधकवचनैर्निर्द्धारितफलं मुक्तिसाधकं मुमुक्षूणां कामपूरकमपीदमेवेति-भावः । उक्तं च श्रीमदाचार्यचरणैरन्तःकरणप्रबोधे 'अन्तःकरण मद्वाक्यं सावधानतया शृणु । कृष्णात्परं नास्ति दैवं वस्तुतो दोषवर्जितम्' । किञ्च । 'एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतमेको देवो देवकीपुत्र एव । मन्त्रोप्येकस्तस्य नामानि यानि कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवे'ति । अर्थाद्भगवत्प्राप्त्यर्थं भगवदीयानां भगवत्सरूपसेवनमुपदिष्टं प्राचीनैर्भगवदीयैर्नारदाद्यैर्मुनिभिः । यदि स एव हृदये स्थापितो निविष्टस्तदा तस्य वैष्णवस्य सेवाफलं किमपरमन्यदृष्टिप्राप्तव्यं, न किमपरमन्यदपीति सिद्धान्तः ॥ ३ ॥

इस प्रकार वैष्णवों का समस्त कार्यसाधक, भगवत्प्रमेयबलरूपी, अर्थरूपी द्वितीय पुरुषार्थ निरुपित करने के बाद 'काम' रूपी तृतीय पुरुषार्थ **यदि** इन शब्दों से निरूपित कर रहे हैं।

हे मनुष्य ! यदि स्वहृदय में अर्थात् अन्तःकरण में **सर्वात्मना** अर्थात् सर्वात्मभाव से श्रीगोकुलाधीशप्रभु स्थापित हैं तब **ततः** अर्थात् श्रीगोकुलाधीश से अर्थात् पूर्णपुरुषोत्तम से दूसरी अर्थात् सभी से उत्कृष्ट भक्तों की सर्वकामपूरक वस्तु यदि कुछ भी हो तो **ब्रूहि** अर्थात् कहो। **लौकिकैः** अर्थात् लौकिक-साधनसिद्धि से युक्त वचनों द्वारा तथा **वैदिकैः** अर्थात् वैदिक यागादिसाधक वचनों द्वारा मुमुक्षुओं अर्थात् मुक्ति की कामना करने वालों का कामपूरक, मुक्तिसाधक निर्धारित फल भी यही है, यह भाव है। एवं श्रीमदाचार्यचरणों ने अन्तःकरण प्रबोध में 'हे अन्तःकरण ! सावधानतया मेरे वाक्य सुनो। वस्तुतः कृष्ण से श्रेष्ठ दूसरा निर्दुष्ट-देव नहीं है (अं./१)'' यह कहा है। और। ''एक देवकीपुत्रश्रीकृष्ण का गीत अर्थात् भगवद्गीता शास्त्र है, देवकीपुत्र ही देव हैं। एक उनके नाम ही मंत्र हैं, एक उनकी सेवा ही कर्म है (शा.प्र./४) यह कहा है। अर्थात् भगवद्-प्राप्ति के लिए प्राचीन भगवदीय नारदादि मुनियों ने भगवदीयों को भवत्स्वरूपसेवा उपदिष्ट की है। यदि वह ही हृदय में स्थापित अर्थात् निविष्ट है, तब उस वैष्णव का सेवाफल **किमपरम्** अर्थात् क्या अन्य दृष्टिकोण से प्राप्त करने योग्य हो सकता है ? कुछ दूसरे, अन्य से नहीं प्राप्त हो सकता है, यह सिद्धांत है ॥ ३ ॥

एवं कामरूपं तृतीयं पुरुषार्थं निरूप्यातः परं चतुर्थं मुक्तिरूपं पुरुषार्थमुपदिशन्ति-अत इति ।

अतः सर्वात्मना शश्वद् गोकुलेश्वरपादयोः ।
स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यमिति मे मतिः ॥ ४ ॥

अतः परं श्रीगोकुलेश्वरस्य स्वहृदि स्थापनानन्तरं मुक्तिसाधनं निर्दिशन्त आहुः श्रीगोकुलेश्वरपादयोः स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यम् । इतीति समाप्तौ । यथा औषधसेवनात्सुखीभूतस्यापि पुनरौषधसेवनं पुनर्व्याध्यनुत्पत्तिकरं भवति, तद्वदत्रापि भगवत्प्राप्तौ सत्यामपि पाञ्चभौतिकदेहभृतो जीवस्यासुरादिसङ्गादासुरावेशसम्भावनायां तदनुत्पादकं साधनं कर्तव्यमेव वैष्णवेनेत्यर्थः । अतोत्रेदमौषधवत्सर्वथा न त्याज्यं भगवतः स्मरणं तथा भजनं चेत्यर्थः । स्मरणं त्वन्तःकरणमलापहारकं जीवस्य । भजनं भगवत्सेवारूपं शरीराङ्गीकारज्ञापनार्थम् । यद्यपि शरीरत्यागानन्तरमन्यशरीरं प्राप्य भजनानन्दप्राप्तिरूपं मुक्तिफलं भविष्यति परन्तु तदपि फलमनेन देहेन भगवत्सेवाकरणादुत्पन्नमस्ति तेनास्यैव रक्षार्थं निरूपितम् । भगवता दैवजीवोद्धारार्थं स्ववागीशरूपः प्रकटीकृतस्तेनोक्तं श्रीमदाचार्यचरणैर्मे मतिरिति । भगवदीयेषु स्वकृपाख्यापनार्थमिति दिक् ॥ ४ ॥

इति श्रीकृष्णवागीशसिद्धान्तस्य प्रकाशिका ।
चतुःश्लोकी प्रसादेन तस्यैव विवृता मया ॥ १ ॥
इति श्रीमत्पितृचरणैकतानश्रीवल्लभविरचितः
चतुःश्लोकीप्रकाशः समाप्तः ।

इस प्रकार कामरूप तृतीय पुरुषार्थ निरूपित करने के पश्चात् 'मुक्ति'रूप चतुर्थपुरुषार्थ **अतः** इन शब्दों से उपदेश कर रहे हैं।

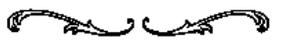
अतः अर्थात् श्रीगोकुलेश्वर को स्वहृदय में स्थापनानन्तर मुक्ति का साधन **श्रीगोकुलेश्वरपादयोः स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यं** इन शब्दों से निर्देश करते हुए कह रहे हैं। **इति** अर्थात् समाप्ति। जिस प्रकार औषधसेवन से स्वस्थ को भी पुनः औषधिसेवन करना पुनः व्याधि-अनुत्पत्तिकर होता है, उस प्रकार यहाँ भी भगवत्प्राप्ति होने पर भी पाञ्चभौतिकदेहधारी जीव को आसुरादि संग से आसुरावेश की संभावना होने पर जिस प्रकार ऐसा दुःसंग न हो वैसे साधन वैष्णवों द्वारा करने ही चाहिए, यह अर्थ है। टीकाकार औषधि के उदाहरण द्वारा भगवद्-भजन को समझाना चाह रहे हैं। वे कहते हैं कि जिस प्रकार औषधि मनुष्य को रोग से स्वस्थ करती है किंतु रोग ठीक होने के पश्चात् भी औषधि-सेवन करने वह से रोग पुनः आक्रमण नहीं करता, उसी प्रकार यदि भगवत्प्राप्ति हो भी जाय तब भी दुःसंग से बचने के लिए भगवद्-भजन करते ही रहना चाहिए, यह अर्थ है। अतः यहाँ इस भगवान के स्मरण एवं भजन को औषधवत् सर्वथा त्यागना नहीं चाहिए। 'स्मरण' तो जीव के अन्तःकरण के मल को नष्ट करनेवाला है। भगवत्सेवारूप-भजन, शरीर का भगवान में अंगीकार बताने के लिए है। यद्यपि शरीरत्याग के पश्चात् अन्य शरीर प्राप्त कर भजनानंदप्राप्तिरूप मुक्तिफल होगा परंतु वह फल भी इस देह द्वारा भगवत्सेवा करने से उत्पन्न हुआ है, अतः इस शरीर की ही रक्षा के लिए भजन को निरूपित किया है। टीकाकार कहना चाह रहे हैं कि इस देह की रक्षा आवश्यक है। वे कहते हैं यद्यपि इस स्थूल लिंग शरीर का त्याग करने के पश्चात् भजनानंद प्राप्त होता है किंतु वह भजनानंद भी इसी देह द्वारा भगवद्-सेवा करने के द्वारा प्राप्त हुआ है अतः देह की रक्षा अवश्य करनी चाहिए। निष्कर्ष यह कि यदि भगवद्-सेवा करने के उद्देश्य से यदि देह को स्वस्थ रखने के प्रयास किए जाएँ तो उसे लौकिक कार्य नहीं अपितु अलौकिक ही मानना चाहिए। इसी संदर्भ में श्रीमद्भागवत के एकादशस्कंध में जहाँ दत्तात्रेय के गुरुओं की चर्चा आई है, वहाँ ११/९/२५ श्लोक द्रष्टव्य है। यहाँ देह को भी गुरु माना गया है। भगवान ने दैवीजीवों के उद्धार के लिए स्वयं के वागीशरूप श्रीमहाप्रभु को प्रकट किया है इससे श्रीमदाचार्यचरणों ने **मे मतिः** यह कहा है। भगवदीयों में स्वकृपा का ख्यापन करने के लिए मे मतिः पद है, यह दिशा स्पष्ट हुई ॥ ४ ॥

यह श्रीकृष्णवागीश वल्लभाचार्यजी के सिद्धांत की प्रकाशिका
'चतुःश्लोकी' उनके ही प्रसाद से मेरे द्वारा विवृत की गई ॥ १ ॥
यह श्रीमत्पितृचरणों में एकनिष्ठ श्रीवल्लभविरचित
चतुःश्लोकीप्रकाश समाप्त हुआ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

चतुःश्लोकी ।

विवृतिसमेता ।



नमः श्रीवल्लभाचार्यचरणाब्जनखेन्दवे ।
धर्मार्थकाममोक्षार्थं सेव्याय स्वजनैः सदा ॥ १ ॥

अथ श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणाः कृष्णाश्रयग्रन्थे शरणागतिं निरूप्य शरणागतानां स्वमार्गीयप्रमाणादीन् धर्मादींश्चोपदेष्टुं पूर्वं धर्मं निरूपयन्ति सर्वदेति ।

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः ।
स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः क्वापि कदाचन ॥ १ ॥

सर्वदा सर्वस्मिन्काले । एतेन निरोधलक्षणोच्यमाना सर्वेन्द्रियैः सेवा सूचिता । फलरूपा मानसी वा, अन्यथा कालापरिच्छेदना-सम्भवात् । सर्वभावेनेति । सर्वेषामिन्द्रियाणामहमहमिकया प्रवृत्तिः सर्वभावः । 'तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिका' इतिश्लोकोक्तवत् । 'तस्मात्सर्वात्मना नित्य'मिति नवरत्नवाक्याच्च । यद्वा, पतिपुत्रादिभावेन । व्रजस्य निःसाधनस्यानन्यस्वामिनः अधिपः । अत एवावश्यं सेवनीयः । स्वस्यात्मनो जीवमात्रस्य अयं मुख्यो धर्मः । अन्ये त्वेतदङ्गभूता इत्येवकारः । धर्म इति 'पुष्टिमार्गे हरेर्दास्यं धर्म' इतिकारिकोक्तो विध्युक्तः । विधिस्तु नारदीये 'प्रातर्मध्यन्दिने सायं विष्णुपूजां समाचरेत् । यथा सन्ध्या तथा नित्या विष्णुपूजा स्मृता बुधैः' । एतदेवोक्तं भक्तिहंसे 'स्त्रियाः स्वपतिभजनव'दित्यादि । हीति युक्तोयमर्थः । अन्यो देवतान्तरभजनरूपो धर्मः, क्वापि कस्मिन्नपि देशे, कदाचन कस्मिन्नपि काले न भवति । एवकारस्तु अयोगव्यवच्छेदकः । अग्रिमे 'ब्रूही'तिपदादत्र हे अन्तःकरण हे भक्त इति वाऽध्याहार्यम् ॥ १ ॥

स्वजनों द्वारा धर्माधिकाममोक्ष के लिए सेव्य श्रीवल्लभाचार्यचरणकमलनखचंद्र को मैं सदा नमन करता हूँ ॥ १ ॥

अथ श्रीवल्लभाचार्यचरण कृष्णाश्रयग्रंथ में शरणागति निरूपित कर एवं शरणागतों को स्वमार्गीय प्रमाण आदि एवं धर्मादि धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष उपदिष्ट करने के पूर्व **सर्वदा** इन शब्दों से 'धर्म' निरूपित कर रहे हैं।

सर्वदा अर्थात् सभी काल में । इससे 'निरोधलक्षण' में कही सभी इंद्रियों द्वारा सेवा करनी सूचित की है। अथवा, फलरूपा मानसी सेवा करनी सूचित की है अन्यथा काल-अपरिच्छेद असंभव होने से। टीकाकार ने मूलपंक्ति में आए 'सर्वदा' शब्द के दो अर्थ किए हैं। पहले अर्थ में सभी इंद्रियों द्वारा सेवा सूचित कर रहे हैं एवं दूसरे अर्थ में 'फलरूपा मानसी सेवा' बता रहे हैं। 'सर्वदा' शब्द को मानसी अर्थ में लेने का कारण यह है, कि तनुवित्तजा सेवा को तो काल ढँक सकता है क्योंकि अनवसर काल में तो सेवा हो नहीं पायेगी एवं तब 'सर्वदा' शब्द अनुपयुक्त सिद्ध हो जायेगा। अतः केवल मानसी सेवा ही ऐसी है जिससे काल अपरिच्छेदन हो सकता है अर्थात् जिसे काल ढँक नहीं सकता। 'सर्वदा' शब्द मानसी के अर्थ में ही युक्ततर है, यह अर्थ है। **सर्वभावेन** इस शब्द की व्याख्या करते हैं। सभी इंद्रियों की अपनी अपनी भगवान में प्रवृति 'सर्वभाव' है। ''उनके मन, उनकी वाणी, उनकी चेष्टा कृष्णात्मिका हो गई थी (श्री.भा. १०/३०/४४)'' इस श्लोक की भाँति। एवं ''अतः सभी प्रकार से नित्य (नव०/९) '' इस नवरत्नवाक्य से । अथवा पति-पुत्रादि भाव से । **व्रजस्य** अर्थात् निःसाधनों के **अधिपः** अर्थात् अनन्य स्वामी। अतएव अवश्य सेवनीय हैं। **स्वस्य** अर्थात् आत्मा का अर्थात् जीव मात्र का यह मुख्य धर्म है। अन्य तो इसके अंगभूत हैं अतः यहाँ 'एव' शब्द का प्रयोग है। धर्म अर्थात् 'पुष्टिमार्ग में हरि की दासता धर्म है'' (वृत्रासुर चतुःश्लोकी के चौथे श्लोक पर श्रीमहाप्रभु की कारिका)। इस कारिका में कही जो विधि है वह धर्म है। विधि तो नारदपुराण में ''प्रातः-मध्यान्ह-संध्याकाल में विष्णुपूजा करनी चाहिए। जैसे संध्या नित्य करनी चाहिए वैसे विष्णुपूजा ब्राह्मणों को नित्य करनी चाहिए, इस वाक्य से कही है। यही 'भक्तिहंस' में ''स्त्री के स्वपति-भजन की भाँति'' वाक्य द्वारा कहा है। 'हि' शब्द का प्रयोग अर्थ की युक्तता बताने के लिए है। **अन्यः** अर्थात् अन्य देवता का भजनरूप धर्म, **क्वापि** अर्थात् किसी भी देश में, **कदाचन** अर्थात् किसी भी काल में हमारे लिए धर्म नहीं हो सकता है। 'एव' शब्द का प्रयोग 'अयोग' के निर्धारण हेतु है। यह 'एव' शब्द मूल पंक्ति में आए 'स्वस्यायमेव' (स्वस्य+अयम्+एव) में आया 'एव' शब्द है। टीकाकार कह रहे हैं, कि यह 'एव' शब्द 'अयोग' अर्थ को बताने के

लिए ग्रंथकार ने प्रयुक्त किया है। अयोग का अर्थ होता है 'न जुड़ना' अतः यहाँ मूलपंक्ति में 'एव' शब्द यह बता रहा है कि हमारा यही धर्म है और अन्यत्र कहीं भी हमें नहीं जुड़ना है, यह समझना चाहिए। आगे 'ब्रूहि' पद से, हे अन्तःकरण ! अथवा हे भक्त ! यह अध्याहार करना चाहिए। 'ब्रूहि' शब्द का अर्थ होता है 'कहो'? ग्रंथ की तीसरी कारिका में 'ब्रूहि' शब्द का उपयोग तो कर दिया गया है परंतु यह प्रश्न किससे किया जा रहा है ? यह बताने के लिए टीकाकार कह रहे हैं, कि ''हे अंतःकरण कहो,'' 'हे भक्त कहो' यह अध्याहार करना चाहिए ॥ १ ॥

एवं व्रजाधिपतिभजनरूपं 'पुष्टिमार्गे हरेर्दास्यं धर्मं' इतिवाक्योक्तं धर्मं सप्रमाणं निरूप्य प्रमेयमर्थरूपं भगवन्तं निरूपयन्ति एवमिति ।

एवं सतां स्म कर्तव्यं स्वयमेव करिष्यति ।
प्रभुः सर्वसमर्थो हि तेन निश्चिन्ततां व्रजेत् ॥ २ ॥

देवतान्तरभजननिवृत्तिपूर्वकं भगवद्भजनं कुर्वतां पुंसां, स्मेति प्रसिद्धौ । यत्कर्तव्यमर्थादिसम्पादनं तत्सर्वं प्रभुः स्वयमेव करिष्यति । स्वकर्तव्यमिति पाठे स्वैः कर्तव्यम् । शेषं पूर्ववत् । भगवतः स्वयमेव कर्तव्यत्वे प्रकारबोधनायाहुः प्रभुरिति । प्रकर्षेण भवति, स्वमेव भक्ताभिलषितवस्तुरूपो भवति । तथा मैथिलश्रुतदेवयोर्गृहयोर्ऋष्यादिवाहनादिसर्वरूपो भूत्वा विवेश । अत एव 'यद्यद्धि-ये'तिवाक्यम् । ननु सर्ववेदप्रतिपाद्यो भगवान्भक्ताभिलषितरूपमुच्चावचत्वं कथं भजत इत्यत आहुः सर्वसमर्थ इति । सर्वेषूच्चावचभावेषु समस्तुल्योऽर्थो भावो यस्य । 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मे'तिश्रुत्या वस्तुतः सर्वस्य भगवत्त्वात् । हि युक्तोयमर्थ । तेन भगवतः सर्वसमर्थत्वेन निश्चिन्ततां व्रजेत्प्राप्नुयात् । विधौ लिङ् ॥ २ ॥

इस प्रकार व्रजाधिपति के भजनरूप; ''पुष्टिमार्ग में हरि की दासता ''धर्म' है'' इस वाक्य में कहे 'धर्म' को प्रमाण सहित निरूपित कर भगवान का प्रमेयरूप 'अर्थ' **एवम्** इन शब्दों से निरूपण कर रहे हैं।

अन्य देवता के भजन की निवृत्तिपूर्वक भगवद्-भजन करनेवाले पुरुष का जो कर्तव्य है अर्थात् अर्थ का संपादन है, वह सभी प्रभु स्वयं करेंगे। **स्वकर्तव्यं** इस पाठ में ''स्वयं के द्वारा करना चाहिए'' यह अर्थ लेना चाहिए। **स्म** शब्द प्रसिद्धि के अर्थ में है। शेष पूर्व की भाँति भगवान जो स्वयं ही करते हैं, उसमें प्रकार का बोध कराने के लिए **प्रभु** इन शब्दों से कह रहे हैं। यहाँ से आगे के वाक्य में टीकाकार 'प्रभु' शब्द का अर्थ कर रहे हैं। प्रकर्ष रूप से होते हैं **या** स्वयं **प्रभु** ही भक्त की अभिलषित वस्तुरूप हो जाते हैं। जिस प्रकार मिथिलापति एवं श्रुतदेव के गृह में ऋषि-आदि वाहनादि सर्वरूप होकर प्रविष्ट हुए। मिथिलापति एवं श्रुतदेव आदि के प्रसंग को समझने के लिए श्रीमद्भागवत (१०/८६/२४,२५,२६) देखें जहाँ भगवान एक ही समय में भिन्न-भिन्न 'भक्तों' के यहाँ पधारे। अतएव ''जिस जिस बुद्धि से (श्री.भा. ३/९/११)'' यह वाक्य हैं। यहाँ शंका करते हैं कि सभी वेद में प्रतिपादित भगवान, भक्त की उच्च-नीच वस्तुरूप होकर कैसे भजते हैं ? यहाँ उठी शंका को समझें। टीकाकार उपर कह आए हैं कि भगवान 'प्रभु' होने के कारण स्वयं भक्त की जैसी इच्छा हो वैसे स्वयं ही हो जाते है। प्रश्न उठता है कि वेद में तो भगवान की असाधारण महिमा बताई गई है, तब फिर यहाँ भगवान भक्त के लिए इस प्रकार साधारण होकर कैसे भजते हैं? यह अर्थ है। इसे **सर्वसमर्थः** इन शब्दों से कह रहे हैं। सभी उच्च-नीच भावों में सम अर्थात् तुल्य अर्थ अर्थात् भाव जिसका है वह सर्वसमर्थ है। ''यह सभी कुछ भगवान है (छा.३/४/१) इस श्रुतिद्वारा वस्तुतः सभी के भगवद्मय होने से । 'हि' शब्द इस अर्थ की युक्तता बताने के लिए है। **तेन** अर्थात् इससे भगवान के सर्वसमर्थ होने से निश्चिंतता को **व्रजेत्** अर्थात् प्राप्त होना चाहिए। विधि में 'लिङ्' का प्रयोग है। यहाँ टीका में आए 'लिङ्' लकार को समझें। मूलग्रंथ की दूसरी कारिका में 'व्रजेत्' शब्द आया है। इसमें 'लिङ्' लकार का प्रयोग हुआ है। व्याकरण के अनुसार 'विधि', 'निमंत्रण', 'आमंत्रण', 'अभीष्ट' एवं 'संप्रार्थना' इतने अर्थों में 'लिङ्' लकार का प्रयोग होता है। टीकाकार कह रहे हैं, कि यहाँ इस दूसरी कारिका में 'व्रजेत्' शब्द के अंतर्गत 'लिङ्' लकार का प्रयोग 'विधि' अर्थ में है। अर्थात् यदि किसी वस्तु का विधान करना हो या आदेशात्मक रूप से कहना हो या निश्चयात्मक रूप से कहना हो तो वहाँ 'लिङ्' लकार का प्रयोग होता है एवं वह विधि-अर्थ में कही जायेगी। यहाँ दूसरी कारिका में वह प्रयुक्त करने से ज्ञात होता है कि ''प्रभु सर्वसमर्थ हैं अतः निश्चिंत रहना चाहिए'' इस वाक्य का विधान किया जा रहा है या यह बात आदेशात्मकतया/निश्चयात्मकतया कही जा रही है, यह अर्थ है॥ २ ॥

एव'मर्थो हरिरेव हि' 'प्रमेयं हरिरेवैक....' प्रमेयं हरिं निरूप्य सकामं साधनदशां प्राप्तं हरिं निरूपयन्ति यदीति ।

यदि श्रीगोकुलाधीशो धृतः सर्वात्मना हृदि ।
ततः किमपरं ब्रूहि लौकिकैर्वैदिकैरपि ॥ ३ ॥

एतेन दुर्लभत्वमुक्तम् । अत एव दिदृक्षा । श्रीयुक्तो गोकुलाधीशः । 'कामः स्त्रीषु प्रतिष्ठित' इतिवाक्यात्ताभिर्युक्तः कामरूपः हृदि

धृतः, हृच्छयः कृतः । तत्रापि सर्वात्मना सर्वेन्द्रियैः 'एकादशेन्द्रियैः काम' इतिनिबन्धवाक्यात् । यद्वा, श्रीभिर्गोपिकाभिर्युक्त इत्युक्त्या साधनं निरूपितम् । 'कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ता गुरवः साधनं च त'दितिवाक्यात् । ततः साधनसहितकामरूपहरेर्हृदि धारणादपरमुत्कृष्टं स्वस्तिपरं किं स्यात् । एतादृशं किमपि न । अस्ति चेद्ब्रूहि । लौकिकैरित्युद्यमादिभिः । वैदिकैरिति यज्ञादिभिः साधनैरपि ॥ ३ ॥

इस प्रकार 'अर्थ निश्चय ही हरि ही हैं, (वृत्रासुर चतुःश्लोकी के चौथे श्लोक पर श्रीमहाप्रभु की कारिका) 'प्रमेय एक हरि ही हैं,(त.दी.नि. २/४८) इत्यादि वाक्यों से हरि का निरुपण कर सकाम अर्थात् साधनदशा में प्राप्त हरि को **यदि** इन शब्दों से निरूपण कर रहे हैं।

इससे दुर्लभता कही है। अतएव दिदृशा होती है। श्रीयुक्त गोकुलाधीश अर्थात् ''काम स्त्री में प्रतिष्ठित है'' इस वाक्य से उन स्वामिनी से युक्त कामरूपभगवान **हृदि धृतः** अर्थात् हृदगत किए हैं। वहाँ भी **सर्वात्मना** अर्थात् ''सभी इंद्रियों द्वारा काम (त.दी.नि.३/४/११३)'' इस निबंधवाक्य से सभी इंद्रियों द्वारा। अथवा। ''श्री अर्थात् गोपिकाओं से युक्त'' इस कथन द्वारा साधन निरूपित किया है। ''कौंडिन्य एवं गोपिकाएँ गुरु हैं एवं उन्होनें जो किया वही भक्तिमार्ग में साधन है (सं.नि./८)'' इस वाक्य से। **ततः** अर्थात् साधनसहित कामरूप हरि को हृदय में धारण करने से **अपरं** अर्थात् उत्कृष्ट कल्याणकारी क्या है ? ऐसा कोई भी नहीं है। यदि हो तो **ब्रूहि** अर्थात् कहो। **लौकिकैः** अर्थात् प्रयत्नादि द्वारा। **वैदिकैः** अर्थात् यज्ञादि साधनों द्वारा भी श्री गोकुलाधीश से उत्कृष्ट क्या है? कहो ॥ ३ ॥

एवं हरेर्दिदृक्षारूपं कामं साधनं निरूप्य फलं मोक्षं निरूपयन्त्यत इति ।

अतः सर्वात्मना शश्वद्गोकुलेश्वरपादयोः ।
स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यमिति मे मतिः ॥ ४ ॥

यतो हृदये श्रीगोकुलाधीशधारणादन्यत्साधनं नास्ति, अतः सर्वात्मना देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणैः शश्वन्निरन्तरं, गोकुलेश्वरपादयोः गवां कुलस्य 'कुल संस्त्याने बन्धुषु चे'ति धात्वर्थात्समूहस्य, गोबन्धूनां गोपगोपीनां, गोकुलग्रामस्य वा ईश्वरस्य नियामकस्य, पादयोः स्मरणमाध्यानं भजनं सेवनं तनुजवित्तजमानसप्रकारैः परिचरणं न त्याज्यं, अन्यत्यागपूर्वकं सादरं सर्वथा विधेयम् । चकारः अयोगव्यवच्छेदकः, अनुक्तश्रवणकीर्तनसमुच्चायकश्च । अपिः संभावनायाम् । त्यागसम्भावनैव नास्ति । इति एवंप्रकारिका मम मतिः । मन्यतेः पर्यवसानमत्रैव । इदमेव फलम् । मोक्षश्चायम् । 'मोक्षः कृष्णस्य चेद् ध्रुवमि'तिवाक्यात् । 'ममोत्तमश्लोकजनेषु सख्यामि'ति वृत्रासुरोक्तेश्चेति दिक् ॥ ४ ॥

एवं श्रीवल्लभाचार्या धर्मार्थेच्छाऽमृतान्निजान् ।
लोके प्रदर्शयामासुः प्रमाणादींश्च यद्यशः ॥ १ ॥
इति विवृतिः समाप्ता ।

इस प्रकार हरिदिदृक्षारूप काम-साधन निरूपित कर फल अर्थात् **अतः** इन शब्दों से निरूपित कर रहे हैं।

क्योंकि हृदय में श्रीगोकुलाधीश को धारण करने से अतिरिक्त दूसरा साधन नहीं है, अतः **सर्वात्मना** अर्थात् देह-इंद्रिय-प्राण-अन्तःकरण द्वारा **शश्वत्** अर्थात् निरंतर **गोकुलेश्वरपादयोः** अर्थात् गौ-कुल के ''कुल संस्थान में एवं बन्धुओं में'' इस धातु-अर्थ से यहाँ टीकाकार मूल कारिका में आए 'गोकुलेश्वर (गो+कुल+इश्वर) शब्द का अर्थ कर रहे हैं। इस शब्द में आया 'कुल' शब्द, वे कहते हैं कि 'संस्थान' एवं 'बंधु' अर्थ में प्रयुक्त होता है। अर्थात् यदि कहीं किसी विशिष्ट स्थान का निर्देश करना हो, किसी संस्था का या किसी समूह का निर्देश करना हो तो वहाँ 'कुल' शब्द का प्रयोग होता है। इसी प्रकार यदि किसी परिवार विशेष को कहना हो या परिवार के बंधु-बांधवों को बताना हो तो भी वहाँ 'कुल' शब्द का प्रयोग होता है। इन्हीं दोनों अर्थो के संदर्भ में टीकाकार आगे 'गोकुलेश्वर' शब्द के विभिन्न अर्थ कर रहे हैं। समूह के अथवा गोबन्धुओं के अथवा गोपगोपियों के अथवा गोकुलग्राम के अथवा ईश्वर के अथवा नियामक के **पादयोः स्मरणं** अर्थात् चरणों का भलीभाँति ध्यान, **भजनं** अर्थात् सेवन, तनुवित्तजामानसी के प्रकार द्वारा परिचरण **न त्याज्यं** अर्थात् अन्य देवताओं के भजन के त्यागपूर्वक आदरसहित सर्वथा करना चाहिए। चकार 'अयोग' अर्थ को बताने एवं न कहे श्रवणकीर्तन का समुच्चायक है। टीकाकार आगे कह रहे हैं, कि 'च' शब्द यहाँ चौथी कारिका में स्मरण एवं भजन के लिए आया है किंतु वहाँ श्रवणकीर्तन वाले नवधाभक्ति के समुदाय को भी समझ लेना चाहिए, जो कि कहे नहीं हैं किंतु 'च' शब्द से स्वतः ही समझ लेने चाहिए, यह अर्थ है। **अपि** अर्थात् संभावना में। 'अपि' शब्द का अर्थ होता है 'भी'। यहाँ तीसरी एवं चौथी कारिका को मिलाजुला कर

१ एतावत्येवोपलब्धा ।

अर्थ यह निकलेगा कि यदि श्रीगोकुलाधीश हृदय में धारण कर लिए है तब फिर किसी लौकिक वैदिक कर्तव्यों की आवश्यकता नहीं रह जाती एवं इसके साथ-साथ स्मरण एवं भजन 'भी' त्याज्य नहीं हैं। टीकाकार कहते हैं, कि 'अपि' शब्द प्रयोग करने का अर्थ यह है कि वह स्मरण/भजन का किसी भी दशा में त्याग करने की सारी संभावनाओं को नष्ट किए दे रहा है। अर्थात् स्मरण/भजन 'भी' करने ही चाहिए, यह अर्थ है। त्याग की संभावना ही नहीं है। **इति** अर्थात् इस प्रकारक मेरी **मतिः** है। मेरी मति से समाप्ति यही है। यही फल है। एवं ''यदि कृष्ण का हूँ तो निश्चित यह ही मोक्ष है। (वृत्तासुर चतुःश्लोकी के चौथे श्लोक पर श्रीमहाप्रभुकारिका)'' इस वाक्य से मोक्ष यही है। एवं ''उत्तमश्लोक जनों का मुझे सख्य हो (वृत्रा. चतु./४) '' यह वृत्रासुर द्वारा कहा होने से, यह दिशा स्पष्ट हुई ॥ ४ ॥

इस प्रकार श्रीवल्लभाचार्य ने निजजनों के लिए लोक में धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष
एवं प्रमाणादि प्रदर्शित किए जिससे उनका यश हुआ॥ १ ॥
विवृति समाप्त हुई।

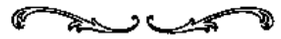
श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

चतुःश्लोकी ।

श्रीमद्गोस्वामिश्रीमथुरानाथकृतव्याख्यानान्विता ।



श्रीहरिर्वागीशो विजयतेतराम् ।

नत्वा श्रीवल्लभाधीशपादाब्जयुगलं मया ।

क्रियते तच्चतुःश्लोकीव्याख्यानं विदुषां मुदे ॥ १ ॥

अथ श्रीपुरुषोत्तममुखारविन्दाधिदैविकानन्दमयाग्निस्वरूपश्रीवल्लभाचार्यचरणाः परमकारुणिकाः स्वान्तःकरणोपदेशद्वारा स्वसमीपस्थान्तरङ्गभक्तोपदेशव्याजेन वाखिलस्वकीयनिरुपधिदुःखप्रहरणेच्छया स्वप्रकटितभक्तिमार्गे श्रीकृष्ण एव धर्मादिचतुष्टयपुरुषार्थरूप इति तानुपदेष्टुं शिक्षितुं च तावच्छ्लोकैरेवैतद्धर्मादीनुपदिशन्तस्तत्रापि 'तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्' 'धर्मेण पापमपनुदति' 'धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद्धर्मं परमं वदन्ती'त्यादिश्रुतिभिर्मर्यादायामपि तत्परमोत्कर्षत्वं यत्र, तत्र फलमार्गीयभक्तिमार्गतत्परमोत्कर्षत्वे किं वाच्यमिति कैमुतिकन्यायमतमपि सूचयन्तो, भजनरूपे धर्मे क्रियमाण एव तदर्थादित्रितयं सेत्स्यतीति न तदर्थं पृथगायासः कार्य इति मार्यादिकतच्चतुष्टयतो भक्तिमार्गीयतच्चतुष्टये वैलक्षण्यमतिसौख्यमिति च ध्वनयन्तस्तच्चतुर्षु च सर्वत्र प्रथमं धर्म एवोद्दिष्ट इत्यत्रापि तावदादौ तमेव दृढयन्तो निरूपयन्ति सर्वदेति ।

श्रीवल्लभाधीश के चरणकमलयुगल को नमन कर मैं,
उस चतुःश्लोकी का व्याख्यान, विद्वानों की प्रसन्नता के लिए करता हूँ ॥ १ ॥

अथ, श्रीपुरुषोत्तम के मुखारविंद-आधिदैविक आनंदमय-अग्निस्वरूप-परमकारुणिक-श्रीवल्लभाचार्याचरण स्वयं के अन्तःकरण को उपदेश द्वारा स्वयं के समीप स्थित अंतरंग भक्तों को उपदेश करने के बहाने अथवा, संपूर्ण स्वकीयों के दुःख दूर करने की निरुपधि इच्छा से स्वप्रकटित भक्तिमार्ग में ''श्रीकृष्ण ही धर्मादि चतुष्ट्य पुरुषार्थरूप हैं'' यह उन्हें उपदेश करने एवं शिक्षित करने के लिए उतने चार श्लोकों द्वारा ही इन धर्मादि धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष का उपदेश करते हुए वहाँ भी ''उनमें प्रथमतया धर्म हुआ (ऋ. १/१६४/५०; तै.सं. ३/५/११/५)'' ''धर्म से पाप का नाश होता है'', ''धर्म सभी में प्रतिष्ठित है, अतः धर्म श्रेष्ठ कहा जाता है'' इत्यादि श्रुति द्वारा मर्यादामार्ग में भी जहाँ धर्म का परम उत्कर्ष है, वहाँ फलमार्गीय भक्तिमार्ग में उसका परम उत्कर्ष होने में क्या कहना? इससे, कैमुतिकन्यायमत भी सूचित करते हुए 'भजनरूप-धर्म करते हुए ही अर्थादि तीन अर्थात् अर्थ-काम-मोक्ष हो जायेंगे अतः इनके लिए पृथकरूप से प्रयत्न नहीं करने चाहिए, इस मार्यादिक चतुष्ट्य अर्थात् मर्यादामार्गीय धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष से भक्तिमार्गीय चतुष्ट्य में विलक्षणता एवं अति-सुख हैं, यह ध्वनित करते हुए उन चारों में सर्वत्र प्रथमतया धर्म ही उद्दिष्ट है। अतः यहाँ भी प्रथमतया उसे ही दृढ़तापूर्वक **सर्वदा** इन शब्दों से निरूपण कर रहे हैं।

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः ।

स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः क्वापि कदाचन ॥ १ ॥

सावधानतया श्रवणार्थमाभिमुखीकरणेन हे अन्तःकरण ! हे भक्त ! इति वा सम्बोध्य सर्वदा सर्वस्मिन्काले सर्वभावेन व्रजाधिपो भजनीय इत्यन्वयः । भगवदीयेन त्वयेति शेषः । उपदेश्योद्देशाश्रवणतस्तथासम्बोधनं वक्तव्यमन्यथोत्तरे 'ब्रूही'ति पदं न सङ्गच्छेत । आसुरप्रवेशाभावाय सर्वदेति कालापरिच्छेद उक्तः । सर्वभावः सर्वेषां भावः पतिपुत्रधनादि सर्वं प्रभुरेवेति । अत एव पुष्टिश्रुतिरूपाभिस्तामसप्रकरणीयफलप्रकरणे 'अस्त्वेवमेतदि'त्यत्र तथैव गीतं 'प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मे'ति । एतदर्थस्तु 'तत्कस्यचित्प्रियो देह' इत्यारभ्य 'भगवत्सेवैवोचिते'त्यन्तं तद्वाक्याशयेन प्रभुचरणैस्तथैव निरणायीति तत एव विभावनीयः । यद्वा, सर्वेषु पदार्थेषु भावो भगवत्सम्बन्धित्वभावनं, तेनेत्यर्थः । अत एव वृत्रासुरेणापि तथा प्रार्थितं 'त्वन्माययात्मात्मजदारगेहेष्वासक्तचित्तस्य न

नाथ भूयादि'ति । अथवा सर्वभावः सर्वात्मभावः, तेन तथेत्यर्थः । आत्मपदमन्तरेण कथनं तु 'परोक्षप्रिया इव हि देवाः' 'परोक्षं च मम प्रियमि'तिव्याहारतः परोक्षकथनाभिप्रायेण । स्वरूपं तु सर्वेषामिन्द्रियाणामहमहमिकया निरुपधिभगवत्प्रवृत्तिः । विशेषतो जिज्ञासायां तु विवेचितोस्मत्प्रभुचरणैरणुभाष्यतृतीयाध्यायतृतीयचरण इति सुधीभिस्तत एव परिभावनीयः । तदधिकरणरूपास्तु ब्रजे रासमण्डलमण्डना एवेति न तद्भावाधिष्ठानान्वेषणप्रयासः ।

सावधानतया सुनने के लिए अभिमुख करने के द्वारा हे अन्तःकरण ! या हे भक्त ! यह संबोधित कर **सर्वदा** अर्थात् सभी काल में सर्वभाव से व्रजाधिप भजनीय हैं, यह अन्वय है। 'तुम भगवदीयों द्वारा भजनीय हैं', यह शेष रह जाता है। पहली कारिका सर्वदा...कदाचन को ध्यान से पढ़े! ज्ञात होगा कि, यह विधानात्मक वाक्य है। अर्थात् यह उपदेश किसी को किया जा रहा है। किंतु किसे? यह श्रीमहाप्रभुने स्पष्ट नहीं किया है। वैसे किंवदंती श्री राणा व्यास की है किंतु इस कारिका में तो अस्पष्ट ही है। अतः टीकाकार कह रहे हैं कि, कदाचित् श्रीमहाप्रभु स्वयं के अन्तःकरण या किसी भक्त को संबोधित कर कह रहे हैं। अतः ''हे अन्तःकरण ! सर्वदा...कदाचन अथवा ''हे भक्त ! सर्वदा...कदाचन'' इस प्रकार अध्याहार करके अर्थ लेना चाहिए। उपदेश्य एवं उद्देश स्पष्टतया सुनाई न देता होने से उपर कहे 'संबोधन' को कहना चाहिए, अन्यथा बाद में 'कहो' यह पद नहीं जुड़ पायेगा। समझना चाहिए कि 'उपदेश्य' वह होता है जिसको उपदेश किया जा रहा हो। उद्देश का अर्थ होता है प्रयोजन या कारण। टीकाकार का कहना है कि, सर्वदा...कदाचन का उपदेश किसे किया जा रहा है एवं उसका प्रयोजन क्या है? यह इस कारिका में स्पष्ट नहीं है। अतः या तो श्रीमहाप्रभु स्वयं के अंतःकरण या किसी भक्त को कह रहे हैं, यह ही मानकर चलना पड़ेगा अन्यथा तीसरी कारिका में आया 'ब्रूहि' अर्थात् 'कहो' शब्द की संगति नहीं बैठ पायेगी, यह अर्थ है। आसुरप्रवेश के अभाव के लिए **सर्वदा** पद से काल का अपरिच्छेदन कहा है। 'सर्वदा' पद देने का तात्पर्य यह है कि हमें निरंतर, अबाधरूप से व्रजाधिप का भजन करना है। यदि कुछ काल के लिए भी अवरोध हो जाय तो आसुरीभाव आ जाता है। 'सर्वदा' कह देने से काल उस भजन को ढँक नहीं सकता। यह काल-अपरिच्छेदन का अर्थ है। **सर्वभावः** शब्द की व्याख्या करते हैं। सभी का भाव अर्थात् पतिपुत्रधन आदि सभी प्रभु ही हैं, यह सर्वभाव है। अतएव पुष्टिश्रुतिरूपाओं अर्थात् गोपिकाओं ने तामसप्रकरणीय फलप्रकरण में ''इस प्रकार यह है (श्री.भा. १०/२९/३२)'', ''शरीरधारीयों के आप प्रियतम, बंधु एवं आत्मा हो (श्री.भा. १०/२९/३२)'' इत्यादि वाक्यों से वही गाया है। इसीलिए तो ''तत्कस्यचित्प्रियो देह (सु.१०/२६/३२)'' यहाँ से आरंभ कर ''भगवत्सेवौचितेति (सु.१०/२६/३२)'' यहाँ तक इस वाक्य के आशय से प्रभुचरणों ने वही निर्णय किया है अतः वही विचारणीय है। अथवा, सभी पदार्थों में भगवद्-संबंधी भावना का जो भाव है, उससे भजना चाहिए, यह अर्थ है। अतएव वृत्रासुर ने भी ''हे नाथ ! आपकी माया से मोहित जिनका पुत्र, पत्नी, गृह में चित्त आसक्त है, उनका संग मुझे न हो (श्री.भा. ६/११/२७)'' इत्यादि वाक्यों से प्रार्थना की है। अथवा **सर्वभावः** अर्थात् सर्वात्मभाव, उससे भजना चाहिए, यह अर्थ है। आत्मपद का उपयोग न करके परोक्षकथन तो ''निश्चय ही परोक्षप्रिय देवताओं की भाँति (ऐत.उप.१/३/४)'', ''परोक्ष मुझे प्रिय है (श्री.भा.११/२१/३५)'' यह श्रुतियों में कहा होने से, कहा है। यहाँ टीकाकार इन श्रुतियों द्वारा यह कहना चाह रहे हैं कि, महापुरुषों की भाषा सूत्रात्मक होती है। उनमें गूढ़ अर्थ छुपा हुआ होता है। अतः प्रत्यक्षतया न कहकर वे परोक्षतया ही कहा करते हैं। इसे एक उदाहरण से समझें। श्रीमद्-भागवत के १०/१/३४ वें श्लोक में आकाशवाणी ने कंस से कहा कि देवकी के आठवें गर्भ की संतान उसे मार डालेगी, किंतु कौन? पुत्र या पुत्री? यह नहीं कहा। इसी प्रकार श्रीमद्-भागवत के १०/४/१२ वें श्लोक में योगमाया ने कंस से कहा कि उसे मारनेवाला तो यही किसी स्थान पर पैदा हो चुका है किंतु कहाँ? कब? कौन? यह नहीं बताया। यह है परोक्षकथन अर्थात् किसी भी वस्तु को स्पष्टतया न कहकर सूत्रात्मक शैली में कहना। टीकाकार कह रहे हैं कि, यहाँ पहली कारिका में भी श्रीमहाप्रभु परोक्षतया ही कह रहे हैं, वह इस प्रकार कि, यहाँ भी उनका उपदेश सुननेवाला श्रोता स्पष्ट नहीं है एवं 'सर्वभावेन' शब्द में भी किसी एक भाव को न कह कोई भी भाव कह दिया गया है, कुछ भी स्पष्ट रूप से नहीं कहा गया, यह अर्थ है। यहाँ परोक्षतया कहने की आवश्यकता क्यों पड़ी? यह भी समझ लें। प्रत्येक जीव में प्रभु-प्राप्ति विभिन्न भाव उपज सकते हैं अतः निश्चयात्मकतया किसी एक भाव को विधानात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता। दूसरी बात, हर जीव का अधिकार भिन्न होता है। उसे उसके अधिकारानुसार ही उपदेश करना चाहिए। प्रभु-संबंधित किसी गूढ़रस की उत्कृष्ट भाव किसी जघन्याधिकारी को नहीं कहा जा सकता है। स्वयं श्रीप्रभुचरण मधुराष्टक की टीका में ''प्रार्थये....माद्राक्षीदपि वैष्णवः'' इस प्रकार आज्ञा करते हैं। अतः सर्वभाव को परोक्षतया कहा है अर्थात् जिसे जो भाव स्फुट होता हो, उसे उस भाव से प्रभु को भजना चाहिए, यह अर्थ है। किंतु यहाँ ध्यातव्य है कि प्रभु में स्त्रीभाव नहीं रखा जा सकता। यह बात श्रीजयगोपालभट्टजी ने भक्तिवर्धिनी ग्रंथ की टीका में समझाई है। देखें भक्तिवर्धिनी-हिन्दी-अनुवाद ग्रंथ में पृ. संख्या ७६, ७७। सर्वभाव का स्वरूप तो सभी इंद्रियों की अपनी-अपनी भगवान में निरूपधि प्रवृत्ति है। विशेषरूप से जिज्ञासा होने पर तो हमारे प्रभुचरणों ने अणुभाष्य के तृतीय अध्याय के तृतीय चरण में विवेचित किया है। अतः बुद्धिमानों को वही विचारणीय है। उस सर्वभाव की आधाररूप तो व्रज में रासमंडल की आभूषणरूपा गोपिकाएँ ही हैं। अतः उनके भाव का आधार क्या है? यह खोजने का प्रयास नहीं करना चाहिए।

सर्वभावेनेत्यत्र हि करणे तृतीया, तद्धि व्यापारवत्कारणं, व्यापारस्तु 'तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकत्वम्' । तथा च सर्वात्मभावजन्यफलं भजनानन्दानुभवस्वरूपं, तत्तु रसात्मकप्रभुस्वरूपात्मकमेव । 'रसो वै स' इतिश्रुतेः । मध्ये रमणमवान्तरव्यापारः । अत एवोक्तं फलप्रकरणारम्भे तथैव प्रभुचरणोक्तिरूभयत्र । 'पञ्चधा रमणं मतं' 'ततो रूपं प्रतिष्ठितम्' । 'हरिप्रियास्विति शेष' इति । अत एतद्रमणस्य तज्जनकत्वम् । एवं चोक्तप्रकारेण भजने फलाभावशङ्का निराकृता । करणं तु फलवन्न तु फलात्मकं, तेनास्य साधनत्वं न तु फलरूपत्वमिति पूर्वपक्षिमनःकलिलतां व्रजाधिपपदेन निरस्यन्ति । व्रजस्य 'अह्नचापृतं निशि शयानमतिश्रमेणे'तिवाक्यान्निःसाधनस्याधिपः प्रभू राजवन्नियामकः, 'अनन्यगोकुलस्वामिफलादाता फलात्मक'श्चात एव 'निःसाधनफलात्मायं प्रादुर्भूतोऽस्ति गोकुल' इति श्रीमदाचार्यचरणोक्तिरपि । स एव भजनीयः सेव्यो नान्यस्तदंशः कलादिर्वेत्यर्थः । एवञ्च सतीदं भजनं फलरूपं साधनरूपं च । यथा चाखण्डभूमण्डलाखण्डलस्य हि हेममणिमाणिक्यमयरुचिरपात्राणि, कोशविशेषे सङ्ग्राह्याणि व्यवहार्याणि च तान्येव । यतस्तस्यैव सर्वाधिकैश्वर्यत्वात् । तेषामपि तत्तज्जातीयेभ्यस्तथात्वात्तथात्रापि । न हि ततोपि जीवमात्रनियामकोऽपरोऽस्ति येन सोपि नियम्यः स्यात् । अतो भक्तिमार्गे सकलसाधनमूर्धन्यमेव साधनं सकलफलमूर्द्धन्यमेव फलमिति नानुपपत्तिः काचित् ।

सर्वभावेन इस पद में निश्चय ही साधन अर्थ में तृतीया-विभक्ति का प्रयोग किया गया है। वह कारण व्यापार की भाँति है, व्यापार तो ''उसके जनित होने पर, जन्य का जनक प्रमाणित है'' ऐसा है। यहाँ मूल टीका में आए ''सर्वभावेन...जनकत्वम्'' तक की पंक्ति का अर्थ समझें। 'करण' का अर्थ होता है साधन। इस पंक्ति को ध्यान से पढ़ने पर ज्ञात होगा कि, 'सर्वभावेन' शब्द करण है अर्थात् वह प्रभुप्राप्ति में साधन है। चूँकि यह 'सर्वभाव' प्रभु-प्राप्ति का साधन है अतः इसमें तृतीया-विभक्ति लगी एवं 'सर्वभावेन' शब्द बना, जिसका अर्थ होता है 'सर्वभाव से'। टीकाकार कहना चाह रहे हैं कि, यह साधन एवं फल का व्यापार अर्थात् कोई साधन है तो कोई फल, कोई प्राप्य वस्तु है तो कोई प्राप्तकर्ता, इत्यादि व्यापार तो 'तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकत्वम्' की भाँति है। इस उक्ति का अर्थ समझने का प्रयास करें। यह न्यायभाषा है, इसका शाब्दिक-अर्थ सर्वप्रथम समझ लें, फिर आगे बढ़ेंगे। तत् = वह/उसके, जन्यत्वे सति = जनित होने पर, तत् = वह/उस, जन्य = जनित का, जनकत्वम् = जनक है। अर्थात् यदि कोई पैदा हुई जनित वस्तु है तो उसका कोई न कोई जनक अर्थात् पैदा करनेवाला अवश्य ही है, यह निश्चित है। उसी प्रकार टीकाकार यह कहना चाह रहे हैं कि, सर्वात्मभाव जनक है एवं उससे पैदा हुई जनित वस्तु भजनानंद का अनुभव है। यदि भजनानंद जैसी कोई वस्तु है तो उसका जनक सर्वात्मभाव है, यह अर्थ है। एवं इस प्रकार सर्वात्मभाव से जनित फल भजनान्दानुभवनस्वरूप होता है, एवं वह तो रसात्मक प्रभुस्वरूपात्मक ही है। ''निश्चय वह ही रस है (तै.२/७)'' इस श्रुति द्वारा मध्य में रमण सामान्य व्यापार है। टीकाकार यहाँ 'रमण' को साधारण कह रहे हैं। कदाचित् यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि हमारे यहाँ तो रमण को ही सर्वश्रेष्ठ फल माना गया है। फिर यहाँ उसे साधारण फल क्यों कहा जा रहा है? यहाँ समझना चाहिए कि जीवों के लिए वह रमण सर्वश्रेष्ठ फल हो सकता है, किंतु प्रभु के दृष्टिकोण से विचारने पर तो उनकी समग्र एवं विशाल लीलाचक्र का तो वह 'रमण' एक छोटा सा हिस्सा मात्र ही है। इसीलिए टीकाकार ने यहाँ रसो वै सः यह श्रुति भी दी है। इस श्रुति के पूर्वापर का अनुसंधान करने पर एवं भगवद्-गीता के ८/१८; ९/७; २/२८; ७/२४; १०/२ इत्यादि श्लोकों का भी अनुसंधान करने पर ज्ञात होगा कि, भगवान की लीला कितनी विशाल है। इस विशाल लीला के परिप्रेक्ष्य में 'रमण' तो प्रभु की एक साधारण लीला है, यह अर्थ है। अतएव फलप्रकरण के आरंभ में वैसा ही प्रभुचरणों ने दोनों स्थानों पर कहा गया है। ''रमण पाँच प्रकार का है (सु.१०/२६/का.६)'', ''इसके बाद रूप प्रतिष्ठित हुआ (सु.१०/२६/का.७)'', ''की प्रियाओं में (टि.१०/२६/का.७)'' यह कहा है। अतः इस रमण का वह सर्वात्मभाव जनक है। एवं इस प्रकार कहे गये प्रकार से भजन में फल के अभाव की शंका निवारित कर दी है। साधन तो फल की भाँति है न कि फलात्मक, इससे यह सर्वभाव साधन है न कि फल। अतः पूर्वपक्षी के मन की विकलता 'व्रजाधिप' पद से निरस्त हो जाती है। 'एवं चोक्तप्रकारेण' से लेकर 'निरस्यन्ति' तक की पंक्तियों का अर्थ समझें। टीकाकार कहना चाह रहे हैं कि, इतने विश्लेषण के पश्चात् 'भजन में फल का अभाव है' यह शंका स्वयं ही निरस्त हो जाती है। यहाँ किंतु, टीकाकार एक बात पर ध्यान दिलाना चाह रहे हैं कि, 'सर्वभाव' फल की भाँति है, स्वयं फल नहीं है। वह तो साधन है, फल नहीं। अर्थात् जैसा कि उपर बताया गया कि सर्वभाव करण है अर्थात् साधन है, भजनानंदरूपी फल नहीं है। अतः समझना चाहिए कि सर्वभाव से व्रजाधिप का भजन करना चाहिए, यह कहा। अन्यथा यदि सर्वभाव से ही कार्यसिद्धि हो जानी थी, तब 'व्रजाधिप का भजन करना चाहिए' यह कहने की आवश्यकता नहीं पड़ती, यह अर्थ है। व्रज के, निःसाधनों के अधीश प्रभु ''दिन में व्यस्त, रात्रि में अतिश्रम से निद्रा (श्री.भा.२/७/३१)'' इत्यादि वाक्यों द्वारा राजा की भाँति नियामक हैं। ''गोकुल के अनन्यस्वामी फलदाता फलात्मक'', ''निःसाधनों के फलात्मा इस गोकुल में प्रकट हुए हैं (टि. १०/५/२८)'' यह श्रीमदाचार्यचरणों ने भी कहा है। वही **भजनीयः** अर्थात् सेव्य हैं, अन्य उनके अंश या कलादि नहीं, यह अर्थ है। एवं इस प्रकार होने पर यह भजन फलरूप एवं साधनरूप है। जिस प्रकार अखंडभूमंडल के महाराजा के पास हेममणि मणिमाणिक्यमय रुचिर पात्र होते हैं, खजाने में संग्रह एवं व्यवहार के लिए भी

वही उपयोग किए जाते हैं, क्योंकि सर्वाधिक ऐश्वर्य भी उन्हीं का ही है। महाराजा का भी ऐश्वर्य सर्वाधिक है। अतः वे सर्वाधिक ऐश्वर्यशाली मणि-मणिक्य का ही उपयोग करते है। उसी प्रकार यहाँ भजन भी सर्वोच्च साधन होने के कारण सर्वोच्च फल ही प्राप्त होता है। उसी प्रकार यहाँ सर्वभाव में भी समझना चाहिए। निश्चय ही, जीवमात्र का भगवान से अतिरिक्त कोई दूसरा नियामक नहीं है। यदि होता तो भगवान भी नियामक न होकर स्वयं नियम्य ही होते। 'नियम्य' उसे कहते हैं जो नियामक द्वारा नियमित होता हो अतः भक्तिमार्ग में सभी साधनों का शिरोमणि साधन यही भजन है एवं सभी फलों का शिरोमणि फल यह प्रभु हैं, इसमें कोई भी आपत्ति नहीं है।

किञ्च, प्रामाण्यापेक्षायामाप्तवाक्यं शब्द एव प्रमाणम् । आप्तत्वं तु यथाभूतार्थोपदेशकर्तृत्वम् । प्रकृते तादृङ्महानुभावाः श्रीमदाचार्यचरणा एवेति नेतरप्रमाणाकाङ्क्षा । युक्तं चैतत् । न हि साक्षात्पुरुषोत्तममुखारविन्दाधिष्ठातृरूपानन्दमयाग्निस्वरूपादितरः कश्चन तथाभवितुमर्हतीत्यलं विशेषजल्पनेन । अत एवा'चार्यं मां विजानीयादि'ति भगवदुक्तिरपि । वस्तुतः पुरुषोत्तमा एव श्रीमदाचार्याः, तत्त्वं च कस्यचिद्भक्तविशेषस्य तद्भक्त्युद्रेकदशायामेवानुभूतं भवति, अनुभूतं चासकृत्तादृशैः । अत एव वल्लभाष्टके 'अनुभवनिगमाद्युक्तमानै'रित्यत्र श्रीगोकुलनाथचरणैर्विविच्य तेषु तथात्वं निरणायि । एवञ्च तादृगाचार्यवचनानि श्रुतिरूपाण्येव । 'निःश्वसितमस्य वेदा' इतिश्रुत्या भगवन्निश्वासरूपस्य तस्योक्तहेतोस्तत्रैव संभवान्न तच्छङ्कागन्ध इति दिक् । प्रस्तुतं वदामः । व्रजपदं तन्निष्ठपदार्थमात्रोपलक्षकमिति तत्रत्याः सर्व एव भूमियमुनापुलिनाद्रिनिकुञ्जगह्वरवृक्षलतापक्षिगोगोपालगोपीजनमृगादयो लक्षिताः । अत एव 'धन्येयमद्य धरणी'त्यादि भगवता गीतम् । किञ्चात्र भजनीय इति विधिस्तत्राप्यपूर्वनियमविधी तु न सम्भवतस्तत्तल्लक्षणाभावात् । तथा हि नहीश्वरभजनमप्राप्तं, न वा तद्भजनं पाक्षिकमिति नोभयलक्षणावसरः । अत'स्तत्र चान्यत्र च प्राप्त' इतिलक्षणः परिसंख्याविधिरेवायं पारिशेष्यादिति सिद्धम् । एवं च तदकरणेऽपराधरूपप्रत्यवायोपि सूचितः । यथा मर्यादायां तदकरणे प्रत्यवायस्तन्मार्गीयफलाभावश्च, तथात्रापि पुष्टिमार्गीयाचार्यनिदेशोल्लङ्घनेऽपराध एतन्मार्गीयफलाभावेश्चेतिभावः । ननु यत्र रागतः प्रवृत्तिस्तत्रैव स, अत एव 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या' इति तार्किका इति चेत्, न । तथालक्षणस्यानुपलब्धेर्विनिगमकाभावाच्च । यद्वा, मास्त्वयं प्रमाणवृत्तान्तः, प्रमेयपक्षतौ विधेरनियामकत्वात् । वस्तुतस्तु आवश्यकार्थेऽनीय 'आवश्यकाधमर्ण्ययोः' 'कृत्याश्चे'त्यनुशासनात् । तेन सदानन्दरूपत्वाच्छ्रीगोकुलाधिपतिरवश्यमेव भजनीय इति भावः ।

एवं, प्रमाण की अपेक्षा महापुरुषों के वाक्य ही प्रमाण हैं। 'आप्तत्व' तो यथाभूत अर्थ का उपदेश करना है। वर्तमान में ऐसे महानुभाव श्रीमदाचार्य ही हैं अतः अन्य किसी प्रमाण की आकांक्षा नहीं है। एवं यह ठीक भी है। निश्चय ही, साक्षात् पुरुषोत्तम के मुखारविंद के अधिष्ठाता रूप-आनंदमय-अग्निस्वरूप श्रीवल्लभाचार्य से इतर किसी अन्य का वाक्य प्रमाण नहीं हो सकता, यह प्रचुर-विशेष कहना हो गया। अतएव ''आचार्य को मुझे समझना चाहिए (श्री.भा.११/१७/२७)'' यह भगवान ने भी कहा है। वस्तुतः श्रीमदाचार्य श्रीपुरुषोत्तम ही हैं, एवं यह तत्व तो किसी भक्तविशेष को उनकी भक्ति की उद्रेगदशा में ही अनुभूत होता है। एवं, तादृशीयों ने अनेकबार ऐसा अनुभूत किया है। अतएव वल्लभाष्टक में 'ऐसा अनुभव वेदादि में कहे वचनों द्वारा (८)'' इस श्लोक में श्रीगोकुलनाथचरणों ने विवेचित कर उनमें वैसा पुरुषोत्तमत्व निर्णीत किया है। एवं, इस प्रकार वैसे आचार्यवचन श्रुतिरूप ही है। 'वेद भगवान के निःश्वास हैं' इस श्रुति द्वारा भगवान के निश्वासरूप-वेद के कहे हेतु से वह प्रमाण वहीं अर्थात् भगवान में ही संभव होने से उस अप्रामाणिकता की शंका की गंध भी नहीं है, यह दिशा स्पष्ट हुई। प्रस्तुत विषय कह रहे हैं। 'व्रज' पद भगवान में निष्ठ पदार्थ मात्र का उपलक्षक है। अतः वहाँ, स्थित भूमि, यमुनातट, पर्वत, धनेवन, वृक्ष, लता, पक्षी, गाय, गोपाल, गोपीजन मृगादि सभी लक्षित हैं। अतएव ''यहाँ की भूमि धन्य है (श्री.भा.१०/१५/८)'' इत्यादि भगवान ने गाया है। और **भजनीयः** अर्थात् 'भजन करना चाहिए' इस पद में कहे भगवान को भजने का नियम एवं विधि चूँकि पूर्व में शास्त्रपुराणादि में कहीं भी कही गई नहीं है अतः आज के परिप्रेक्ष्य में तो संभव ही नहीं है क्योंकि आधुनिक भक्तों में व्रजभक्तों जैसी भक्ति है ही नहीं। और यहाँ यह भी समझिए कि मर्यादामार्ग में ईश्वरभजन अप्राप्त है, ऐसा भी नहीं है। एवं वह सीमित हो, ऐसा भी नही है (देखें 'देवाऽसुरो मनुष्यो वा (श्री.भा.७/७/५०) अतः दोनों ही लक्षणों को कहने का अवसर नहीं रह जाता है। अतः 'यहाँ भी प्राप्त है वहाँ भी' इस लक्षण द्वारा भजन की यह सर्वकालीन विधि ही शेष रह जाती है, यह सिद्ध हुआ।

और भगवद्-भजन न करने पर अपराधरूप-दोष भी सूचित किया है। जिस प्रकार मर्यादामार्ग में भगवद्-भजन न करने पर दोष होता है एवं उस मार्ग का फल भी प्राप्त नहीं होता है, उस प्रकार यहाँ भी पुष्टिमार्गीयाचार्य श्रीमहाप्रभु के निर्देशन का उल्लंघन करने पर अपराध होता है एवं इस मार्ग का फल प्राप्त नहीं होता। यहाँ कोई पूर्वपक्षी यह शंका करे कि, प्रेम से ही भगवान में प्रवृत्ति होने से भगवान भी वहीं प्राप्त होते हैं, तो यह बात तो आपने 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या (वा.रा. ४/१७/३९)'' जैसी तार्किकों वाली बात कह दी है। जिसमें अन्य सभी नख वाले पशुओं को छोड़कर विशिष्ट पाँच प्रकार के नखवाले पशु ही भोजनयोग्य होते हैं। उसी प्रकार यहाँ भी

प्रभुप्राप्ति के अन्य कई साधनों के उपलब्ध रहते हुए आप केवल 'प्रेम' तक ही प्रभुप्राप्ति को सीमित करे दे रहे हैं। यदि ऐसी शंका हो तो कह रहे हैं कि, नहीं करनी चाहिए। क्योंकि आपका कहा लक्षण कहीं उपलब्ध भी नहीं है और न ही हमारे कहे अर्थ में उसकी संगति ही बैठ रही है।

अथवा, चलिए छोड़ दीजिए इन प्रमाणों की बातों को, क्योंकि हमारा संप्रदाय तो प्रमेय का मार्ग है एवं प्रमेय की पद्धति में विधि नियामक नही होती। वास्तव मे तो यदि कोई अत्यंत आवश्यक या अनिवार्य वस्तु करनी हो तो ऐसी परिस्थिति में 'आवश्यक एवं अधर्म में (पा.अष्टा.३/३/१७०)'', ''करने योग्य हैं (पा.अष्टा.३/३/१७१)'' इत्यादि सूत्रों के द्वारा आवश्यक कार्य तो करने ही चाहिए। फिर भले ही वहाँ धर्म का विधान न भी हो। इसलिए श्रीगोकुलाधिपति सदानंदरूप होने के कारण अवश्य ही भजनीय हैं, यह भाव है।

अपरञ्च, व्रजधातोर्गमनार्थकत्वेन 'व्रजतीति व्रज' इतिव्युत्पत्त्या पचाद्यच् । भगवतस्तस्याधिपत्येन सोपि व्यापिवैकुण्ठात्मक इत्यसूचि । तेन भक्तहृदयप्रदेशादौ भगवदाविर्भावयोग्यतायां तदिच्छया ततः पूर्वमेव तदाविर्भाव इत्युक्तं भवति । अन्यथा तस्य तदधिष्ठानता न स्यात् । न वा भगवतः साधारणवद्यत्र कुत्रचित्तमन्तरेणाविर्भावतः । इतरथा निखिलजीवनियामकस्यानन्दरूपफलात्मकस्य त्रैलोक्यस्याधिपतेस्तदाधिपत्यमात्रकथनेन को वा तदुत्कर्षः स्यात्, प्रत्युतापकर्षाधायकश्च भवेत् । न चेन्द्रादिलोकवत्तस्योत्कर्षः कुत्रचित्पुराणादौ प्रख्यातो येन तदधिपतित्वेन तादृस्यापि तादृङ्माहात्म्यं, यतस्तथात्वं वदेयुः । कदाचित्तादृशश्रवणमपि भूलोक एव न स्वर्गादिषु, क्वचिच्छ्रूयतेऽपि न तादृशः, सोपि तत्तादृशलीलादर्शनानन्तरमेव, न तदर्वाक् । तादृगपि न सर्वजनावच्छेदेन किन्तु केषाञ्चिदेव भूरिभाग्यभाजां तथात्वं भासते, सोपि भगवतः सकाशादेतस्यैव, नापि ततो भगवतः । किं बहुना तादृशस्यापि प्रादुर्भावोपि माहात्म्याच्छादक एव । अत एव क्वचित्पुराणामपि तत्राबबोधः । अत एव श्रीभागवते पुराणान्तरीयप्रक्षिप्ताध्यायत्रकथा । तत्रैव श्रीगोवर्द्धनोद्धरणप्रस्तावे पुरन्दरगर्वश्च । सोपि तत्र तज्जन्मादिभ्रमहेतुक एव नान्यथा । नन्वेवं चेत्तर्हि तत्रैव स एव तेषामेव कथं स्तुत्यो जात इति चेत्, सत्यम् । परं सा स्तुतिः पूर्वं तन्माहात्म्यज्ञानत एव । यतस्तत्स्वरूपज्ञानं, तत्रापि गर्भ एव ज्ञानादेव तादृक्तन्माहात्म्याबबोधनं, ब्रह्मणो भगवदवतरणसम्बन्धिनिखिलवृत्तान्तावबोधात् । अत एव जन्मप्रकरणीयप्रथमाध्याये राजप्रश्नाभिनन्दनानन्तरं 'भूमिर्दैत्यनृपव्याजे'त्यादिना श्रीशुकैस्तत्र तज्ज्ञानं निरूपितम् । न चैवं वत्सचारणचरित्रे तस्य तद्धरणमशक्यवचनं स्यात्तन्मोहासम्भवादिहासम्भवादिति वाच्यं, सर्वमेतदस्मत्प्रभुचरणैस्तामसप्रकरणीयप्रमाणप्रकरणचरमाद्यायसमाप्यनन्तरमेव 'कथामात्रं हरेर्वाच्य' मित्यादिना समाहितं । श्रीविट्ठलचरणैरपि तदर्थविवरणे विविच्य निरणायीति नात्रानूद्यते विस्तरभीतित इति नात्र पूर्वपक्षावसरः ।

और 'व्रज' धातु गमन-अर्थ में होने के कारण ''जो चलता है, वह 'व्रज' है'' इस व्युत्पत्ति द्वारा पचादि प्रकरण के अनुसार 'व्रज' धातु में 'अच्' प्रत्यय लगकर 'व्रज' शब्द बना है। यहाँ टीकाकार 'व्रज' शब्द का अर्थ कर रहे हैं। वे कहते है कि 'व्रज' थातु 'अच्' प्रत्यय लगा है। व्याकरण के नियमानुसार 'अच्' में से 'च्' का लीप हो जाने के बाद शेष रहा 'अ' यहाँ 'व्रज' में जुड़कर 'व्रज' शब्द बना है, यह अर्थ है। इससे यह कहना चाह रहे हैं कि, चूँकि भगवान व्रज के अधिपति हैं अतः व्रज भी व्यापिवैकुंठात्मक ही है, यह सूचित किया गया है। इससे यह समझना चाहिए कि, जब भक्त का हृदय उनके आविर्भाव के योग्य हो जाता है, तब भगवान के वहाँ बिराजने से पहले उसका हृदय ही व्रजमय हो जाता है, यह कहा है। अन्यथा व्रज भगवान का अधिष्ठान अर्थात् रहने का स्थान न होता। क्योंकि भगवान जहाँ[२] बिराजते हैं, वह[२] स्थल व्रज होता चला जाता है। जानना चाहिए कि व्रज को छोड़कर भगवान का आविर्भाव और कहीं है भी नहीं, केवल व्रज में ही आविर्भाव है। यहाँ ये समझना चाहिए कि, भगवान का अविर्भाव होने के कारण व्रज का माहात्म्य हो गया है, स्वयं व्रज के कारण भगवान का माहात्म्य नहीं है क्योंकि समस्त जीवों के नियामक-आनंदरूप फलात्मक-त्रिलोक के अधिपति को यहाँ व्रज का अधिपति कह देने से स्वयं भगवान का क्या यश हुआ? अपितु ऐसे साधारण स्थल पर जन्म लेने से उनका अपयश ही हुआ। और भी, जैसे इंद्रादि लोक की महिमा पुराणों में कही गई है, वैसी महिमा व्रज की तो कही भी नहीं गई है जिससे यदि प्रभु व्रज के अधिपति हों तो हम कहें? और यदि मान लें कि व्रज का ऐसा कोई माहात्म्य स्वर्ग में न हो कर भूलोक में ही है, तो ऐसा कोई प्रमाणवाक्य भी प्राप्त नहीं होता है जिससे यह सिद्ध होता हो। यदि कहीं हो भी तो भी वह प्रभु की उन[२] लीलाओं के पश्चात् ही सुना गया है जो उन्होनें व्रज में कीं, उससे पहले नहीं। प्रभु का वह माहात्म्य भी जनसाधारण को सामान्यतया नहीं होता। किंतु कुछ भाग्यशालियों को ही भासित होता है। अतः सिद्ध होता है कि भगवान के माहात्म्य के कारण ही व्रज का माहात्म्य है, व्रज के कारण भगवान का नहीं। अधिक क्या कहें? प्रभु का ऐसे व्रज में प्रादुर्भाव होना भी उनके माहात्म्य को कम करने वाला ही है। टीकाकार उपर कह आए हैं कि व्रजभूमि का ऐसा कोई माहात्म्य पुराणों में या स्वर्ग में कहीं भी प्राप्त नहीं है। तथापि यह प्रभु की लीला ही है कि अनेक प्रसिद्ध पुण्यक्षेत्रों के रहते हुए प्रभु व्रज जैसे अनजाने, अप्रसिद्ध लोक में प्रकट हुए। कहने का अर्थ यह कि, कोई यह अनुमान

ही नहीं लगा सकता कि परब्रह्म - पुष्टिपुरुषोत्तम प्रभु ऐसे साधारण स्थल में प्रकट हो सकते हैं। अतएव देवताओं को भी इसका अवबोध न हुआ। इसी अर्थ को श्रीमद्भागवत में पुराणान्तरीय तीन प्रक्षिप्त अध्यायों में कहा गया है। इसी कारण गोवर्धन-धारण के प्रसंग में इंद्र को भी गर्व हुआ। यदि उसे प्रभु के प्राकट्य का ज्ञान होता तो उसे गर्व ही क्यों होता, यह अर्थ है। यही प्रभु किसी प्रसिद्ध पुण्य क्षेत्र में प्रकट होते तो इंद्र को संदेह न हुआ होता एवं वह इस प्रकार गर्वित होकर व्रज भक्तों पर अति वृष्टि भी न करता। किंतु इंद्र को प्रभु का ऐसे स्थल पर प्रकट होना वास्ताविकता न लगकर भम्र ही प्रतीत हुआ। किंतु यहाँ यदि कोई ये शंका करे कि, यदि इंद्र प्रभु के व्रज में प्रकट होने के यथार्थ से अनभिज्ञ था तो फिर उसने वहीं व्रज में प्रभु की स्तुति कैसे की ? टीकाकार स्पष्ट कर रहे हैं कि यह बात ठीक है कि यदि इंद्र को प्रभु का व्रज में जन्म लेना वास्तविकता न लग कर भ्रम ही लगा अतः उसने व्रज पर अतिवृष्टि की किंतु यह शंका करनी ठीक नहीं होगी कि फिर उसने व्रज ही में प्रभु की स्तुति कैसे की? यहाँ समझना चाहिए कि इंद्र ने भगवान की स्तुति 'गोवर्धनधारण' चरित्र में प्रभु का महात्म्य ज्ञान जान लेने के बाद की है उससे पहले नहीं, यह अर्थ है। विशेष जानने के लिए देखें श्री.भा.१०/२७/१-१३। आपका कहना सत्य है। किंतु इतना जान लीजिए कि, इंद्र ने प्रभु की स्तुति गोवर्धन धारण के प्रसंग में उनका माहात्म्य जान लेने के पश्चात् की है, उससे पहले नहीं। एवं वहाँ कंस के कारागार में भी इंद्रादि देवताओं ने जो भगवान की गर्भस्तुति की है, वहाँ भी उसे भगवान की व्रजसंबंधी किसी भी लीला का ज्ञान नहीं था। टीकाकार कहते हैं कि जिस समय भगवान देवकी के गर्भ में पधारे उस समय ब्रह्मा सहित अन्य देवताओं में इंद्र ने भी भगवान की स्तुति की थी किंतु ब्रह्मा ने इंद्र को प्रभु के अवतार के संदर्भ में सिर्फ इतना बोध कराया था कि प्रभु यादववंश में अवतार लेने वाले हैं। व्रज में पधारने या व्रज संबंधी किसी भी लीला का ज्ञान उसे तब भी नहीं था यह अर्थ है। ब्रह्मा को भगवान के अवतरण संबंधी संपूर्ण ज्ञान था। अतएव जन्मप्रकरण के प्रथम अध्याय में राजप्रश्न के अभिनंदन के प्रश्चात् 'घमंडी राजाओं से भूमि (श्री.भा.१०/१/१७)'' इत्यादि वाक्यों से श्रीशुकदेव ने वहाँ उनके ज्ञान का निरुपण किया है। और, यदि आप यहाँ ऐसी भी शंका करें कि, ब्रह्मा जी को तो प्रभु के माहात्म्य का ज्ञान था ही, तब श्रीमद्भागवत में आए प्रभु के गौचारण-चरित्र में ब्रह्माजी का बछड़ों को हरण करना एवं उन्हें मोह होना असंभव है? तो ऐसा नहीं कहना चाहिए। यह सभी हमारे प्रभुचरणों ने तामसप्रकरणीय प्रमाणप्रकरण के चरम अध्याय की समाप्ति के पश्चात् ही 'हरि की कथामात्र है', इत्यादि वाक्यों से समाहित किया है। श्रीविट्ठलचरणों ने भी उस अर्थ के विवरण में विवेचित कर निर्णीत किया है अतः विस्तार भय से अनूदित नहीं कर रहा हूँ, अब पूर्वपक्षी के लिए कोई अवसर शेष नहीं है।

अतो व्यापिवैकुण्ठात्मको व्रज इति व्रजाधिपतत्पदेन ध्वनितम् । अत एवाथर्वणे कृष्णोपनिषदि 'वैकुण्ठं गोकुलवनं तापसास्तत्र ते द्रुमाः' । तैत्तिरीयश्रुतावपि 'ते ते धामान्युष्मसि गमध्यै गावो यत्र भूरिशृंङ्गा अयासः । अत्राह तदुरुगायस्य विष्णोः परमं पदमवभाति भूरेः' । 'विष्णोः कर्माणि पश्यत, यतो व्रतानि पस्पशे । इन्द्रस्य युज्यः सखा । तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः । दिवीव चक्षुराततं'मिति । एतदर्थः प्रपञ्चितः श्रीविट्ठलवरैर्विद्वदाभरण इति नास्माभिरत्र विस्तरणीयस्तथापि तदध्ययनमाधुनिकानां सर्वेषां दुर्घटमिति तत एव तमेवार्थमल्पतोऽनुब्रूमः । तथा हि हे भगवन् ते तव ते तानि 'सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणा'मित्यनुशासनाल्लिङ्गव्यत्ययः । धामानि क्रीडास्थानानि । गमध्यै प्राप्तुं । उष्मसि कामयामहे । तानि कानीत्याकाङ्क्षायां गूढाभिसन्धिमुद्घाटयति श्रुतिः । यत्र श्रीगोकुले भूरिशृङ्गा दीर्घशृङ्गा गावो वसन्तीति शेषः । अथवाऽऽरण्यग्राम्यपशूपलक्षणार्थम् । भूरिशृंगा बहुशृंगा रुरुप्रभृतयो मृगा गावश्च तथा । कीदृशाः ? अयासः शुभाः शोभावहाः शोभाधायका इति यावत् । तस्येति शेषः । अत्र स्थाने भूमौ । तथापि स्वस्य तादृग्भाग्याभावाद्दृग्गोचरो न भवतीति खेदेनाहेत्याह श्रुतिः । तल्लोकवेदप्रसिद्धम् । उरुगायस्योरुकीर्तेर्भगवतो, विष्णोर्व्यापकस्य । अत एव भूरेर्बहुरूपस्य, रासोत्सवादौ तथा प्राकट्यात् । तच्छ्रीगोकुलं परमं पदं, स्थानं वैकुण्ठं पदं, तस्मादप्यधिकं परमं पदं, प्रकृतिप्रियत्वेनापि परमं तादृशं पदमवभाति प्रकाशते' । अत्र स्वयं नित्या श्रुतिः 'अवभाती'ति वदन्ती स्वभानविषयस्य श्रीगोकुलस्यापि नित्यत्वमेव ब्रूते । अन्येषामनवभानपक्षेपि वर्तमानप्रयोगतो विषयस्यापि तत्त्वमेवायातीति भावः ।

अतः व्रज, व्यापिवैकुण्ठात्मक है, यह 'व्रजाधिप' पद से ध्वनित होता है। अतएव अथर्ववेद के कृष्णोपनिषत् में ''गोकुलवन वैकुंठ हैं एवं वहाँ के वृक्ष तपस्वी हैं।'' यह कहा है। तैत्तिरीय श्रुति में भी ''ते ते धामान्युष्मसि.... दिवीव चक्षुराततम्'' यह कहा है।

इसी को श्रीविट्ठलवर ने विद्वद्-मंडनम् में प्रपाञ्चित किया है अतः हम यहाँ विस्तार नहीं कर रहे हैं तथापि वह अध्ययन सभी आधुनिकों को कठिन है इससे, उसी अर्थ को अल्पतया कह रहे हैं। वह इस प्रकार... हे भगवन् ! ते अर्थात् तुम्हारे ते अर्थात् वे; 'सुप', 'तिङ्', 'उपग्रह', 'लिङ्ग', 'नर' इन शब्दों में व्याकरणसूत्रों से लिंग-परिवर्तन हो सकता है। समझना चाहिए, कि यहाँ मूल टीका में आई इस श्रुति में दो बार 'ते' आया है जिसमें एक बार 'ते' का अर्थ 'तुम्हारे' किया गया है। एवं दूसरी बार 'धाम' का विशेषण कहा गया है। प्रश्न यह उठता है कि 'ते' शब्द तो पुल्लिंग शब्द है, जो सः तौ ते की तरह चलेगा एवं धाम शब्द नपुंसक लिंग है जो फलं, फले, फलानि की तरह चलेगा। व्याकरण के नियमानुसार 'विशेषण' और 'विशेष्य' समानवचन, समानविभक्ति एवं समानलिंग के होने चाहिए।

किंतु ते ते धामानि (तुम्हारे वे धाम) में 'तुम्हारे' इस पुलिंग शब्द का विशेषण 'वे धाम' यह नपुंसक लिंग कैसे हो गया? यह प्रश्न है। टीकाकार इसका स्पष्टीकरण दे रहे हैं। वे कहते हैं कि वेद का अपना एक स्वतंत्र अनुशासन होता है जिसके अनुसार 'सुप्' आदि अर्थ में लिंग का व्यत्यय हो सकता है अतः दूसरे ते का अर्थ 'तानि' अर्थात् 'धामों की' यह अर्थ लेना युक्त है। धामानि का अर्थ होता है क्रीडास्थान। 'गमध्यै' अर्थात् प्राप्त करने के लिए। 'उष्मसि' का अर्थ होता है 'हम कामना करते हैं'। कुल मिलाकर अर्थ ये बना कि वे कौन[२] से धाम हैं, जिनकी हम कामना करते हैं? यह आकांक्षा होने पर इसी अर्थ को उपर्युक्त श्रुति स्पष्ट कर रही है। वह कहती है कि जहाँ गोकुल में 'भूरिश्रृंगा' अर्थात् बड़े सींगों वाली गाएँ निवास करती हैं, हम उस प्रभु के धाम की कामना करते हैं। अथवा यों भी समझ लें कि 'भूरिश्रृंगा' शब्द समस्त वन-ग्राम्य पशुओं का उपलक्षण है। अतः 'भूरिश्रृंगा' शब्द का अर्थ अधिक सींगवाले रुरु (हिरण की जाति का एक पशु) की भाँति मृग एवं गायें है। 'अयासः' का अर्थ होता है शुभ, शोभावान, शोभाधायक। व बड़े सींगों वाले पशु भगवान के शोभाधायक हैं। इस स्थान पर अर्थात् भूमि पर। किंतु जीवों का ऐसा भाग्य नहीं है। अतः भगवान के वैसे दर्शन नहीं होते, इसी कारण श्रुति 'आह' कह रही है। 'तत्' का अर्थ है 'वे लोक में प्रसिद्ध प्रभु'। 'उरुगाय की' अर्थात् बड़ी कीर्तीवाले व्यापक भगवान विष्णु की हम कामना करते हैं। अतएव भूरेः अर्थात् बहुरुपी भगवान-रासोत्सव आदि में अनेकरुप से वहाँ गोकुल में प्रकट होने के कारण गोकुल श्रेष्ठ है। 'परमं पदं' का अर्थ होता है श्रीगोकुल। 'स्थान' का अर्थ है वैकुंठ। उस वैकुंठ से भी परम पद जो गोकुल है, वह प्रभु को स्वाभाविकतया प्रिय होने से भी गोकुल श्रेष्ठ है। वैसे स्थल को भगवान प्रकाशित कर रहे हैं। यहाँ नित्यश्रुति स्वयं 'अवभाति' अर्थात् आभासित हो रहा है, यह कह रही है, इससे स्वभानविषयक-श्रीगोकुल की भी नित्यता ही कह रही है। टीकाकार उपर्युक्त श्रुति में आए 'अवभाति' शब्द की व्याख्या कर रहे हैं। वे कहते हैं कि अवभाति का अर्थ होता है ''आभासित हो रहा है'' तदनुसार इसमें वर्तमान काल का प्रयोग है। जिससे यह ज्ञात होता है कि व्यापिवैकुण्ठात्मक से भी श्रेष्ठ जो श्रीमद्गोकुल हैं, उसमें प्रभुलीला नित्य ही है। वह कभी भूतकाल या भविष्यकाल में परिणित होनेवाली नहीं है, यह अर्थ है। अन्यों को भान न होने पर भी वर्तमान प्रयोग से विषय का तत्व आ ही जाता है, यह भाव है। इससे श्रीमद् गोकुल के इस प्रकारक माहात्म्य को न जाननेवालों को भी इस वर्तमान काल के प्रयोग से यह नित्यता का तत्व समझ में आ जाता है, यह अर्थ है।

एतदनन्तरमेव च 'विष्णोः कर्माणी'ति पठ्यते । तथा पूर्वस्मिन्मन्त्रे 'यत्र भूरिशृङ्गा अयासस्तत्तस्य परमं पद'मित्युक्त्वा, तत्र तदनन्तरं कृतानि विष्णोः कर्माणि यशोदास्तनपानपूतनासुपयःपानरिङ्गणादीनि पश्यत, यूयमिति शेषः । यतः कर्मभ्यो हेतुभूतेभ्यो व्रतानि कात्यायन्यर्चनादीनि, सान्निध्याद्विष्णुरेव पस्पशे स्पृष्टवान् । अयं भावः । तत्फलत्वेन तत्कर्त्रीष्वाविर्भूय तासु सर्वां लीलां कृतवानिति । 'स्पश बाधनस्पर्शयो'रिति धातोर्लिटि रूपम् । यद्वा, अयं धातुरुभयार्थकस्तेन व्रतानि लोकमर्यादाव्रतानि पातिव्रत्यादीनि बबाधे । अयमप्यर्थः । वेदमर्यादात्याजकानां कर्मणां सदोषत्वशङ्कापरिहाराय 'यतः' इत्यव्ययप्रयोगः । तथा चैतत्मर्मणामविकृतत्वमुक्तम् । किञ्च, स्वव्रतानि आत्मारामत्वपूर्णकामत्वादिनियमरूपाणि बबाधे । अस्मिन्नर्थे नञ्प्रश्लेषेऽव्रतानि स्पृष्टवानित्यप्यर्थो युज्यते तदा, तानि कर्माणि गोपीभिः सह रमणरूपाणि पश्येतत्युपदेशः । अत्र कश्चनार्थविशेषस्तत्रैवोपपादित इति तत एव परिभावनीयो, विस्तरभयतो नात्र वितन्यते । इन्द्रस्य युज्यो योज्योनुकूलः सखा । अयमाशयः । प्रभुणा इन्द्रयागभङ्गे कृते बहुबलाहकासाधारणवर्षेणेन्द्रेण तद्द्रोहे कृतेपि सर्वसमर्थोपितद्धेतुकतन्मदमेव दूरीकृतवान्, न तु तं तदधिकारं वेति तथा । तदनन्तरमिन्द्राभिषेकगोविन्दनामधारणादिभिस्तत्समानधर्मैस्तथा ।

एवं इसके पश्चात् ही 'विष्णोः कर्माणि' यह पढ़ा जा रहा है। तब पूर्व मंत्र में 'जहाँ शुभ बहुशृंगी हैं वह उनका परम स्थान है' यह कहकर वहाँ, उसके पश्चात्, किए गये विष्णु के यशोदास्तनपान, पूतनापयःपान, घुटनों से रेंगना आदि कर्मों को देखो, 'तुम देखो' यह शेष रह जाता है। जिस हेतुभूतकर्मों से कात्यायनी का अर्चन आदि व्रतों के सान्निध्य से विष्णु को ही पस्पशे अर्थात् स्पर्श किया। भाव यह है कि भगवान फलरूप होने के कारण उन्होने व्रत करनेवाली गोपिकाओं में आविर्भूत होकर उनमें ही सभी लीला की। 'स्पश' धातु बाधन एवं स्पर्श अर्थ 'लिट्' का रूप है। अथवा इस धातु के उभयार्थक होने से व्रतों को अर्थात् लोकमर्यादितव्रतों को अर्थात् पातिव्रत्यादि को बाधित कर दिया। इस श्रुति में आया 'पस्पशे' शब्द 'स्पश' धातु से बना है। लिट् लकार में 'स्पशृ' धातु से 'पस्पशे' शब्द बना है, जिसका अर्थ होता है 'स्पर्श किया'। व्याकरण के अनुसार 'स्पश' धातु का उपयोग 'बाधक' एवं 'स्पर्श' यो दो अर्थों में किया जाता है अतः टीकाकार 'पस्पशे' शब्द का दोनों अर्थों में प्रयोग करके समझा रहे हैं। पहले 'स्पर्श' अर्थ में उन्होंने समझाया कि गोपिकाओं ने कात्यायनी व्रतादि के द्वारा विष्णु को ही स्पर्श किया अर्थात् प्राप्त किया। दूसरे 'बाधक' अर्थ में वे कह रहे हैं कि उन्होंने प्रभुप्राप्ति में रूकावटरूपी सभी लोकमर्यादा एवं पातिव्रतधर्मों को बाधित कर दिया अर्थात् बाँध दिया, यह अर्थ है। यह अर्थ भी है कि वेदमर्यादा त्यागनेवाले कर्मों के सदोष अर्थात् दोषसहित की शंका के परिहार के लिए 'यतः' यह अव्यय प्रयोग है। 'अव्यय' का अर्थ होता है जिसका कभी अर्थ न बदले अर्थात् जो अर्थ बदलकर दुष्ट न हो जाय। यहाँ इस श्रुति में 'यतो' शब्द आया है जो कि अव्यय

प्रयोग है। टीकाकार यह कहना चाह रहे है कि, गोपिकाओं ने लौकिकवैदिक धर्म त्याग दिए जो कि अनुचित है तथापि उनका उद्देश्य प्रभुप्राप्ति था अतः उसमें दोष नहीं आया। टीकाकार कहते हैं कि, यह लौकिकवैदिकमर्यादा प्रभु के लिए त्यागने में दोष नहीं है। अतः निर्दुष्टता का ज्ञापक अव्ययप्रयोग यहाँ किया गया है, यह अर्थ है। एवं, इस प्रकार इन कर्मों को अविकृत कहा है। और, भगवान ने स्वयं के व्रत अर्थात् आत्मारामत्व-पूर्णकामत्वादि नियमरूप बाधित कर दिये हैं। टीकाकार इस श्रुति में आए 'यतो व्रतानि पस्पशे' का और एक अर्थ कर रहे हैं। जैसा कि उपर कहा जा चुका है कि 'स्पश' धातु का बाधक-अर्थ में भी प्रयोग हो सकता है अतः यहाँ यह अर्थ भी लिया जा सकता है कि भगवान ने अपने स्वयं के नियमों का बाध कर दिया। जैसे कि भगवान आत्माराम हैं, पूर्णकाम हैं इत्यादि। आत्माराम होने से भगवान स्वयं में ही रमण करनेवाले हैं। उन्हें उन तामसी गोपिकाओं की क्या आवश्यकता है? एवं, वे पूर्णकाम भी हैं अतः उनकी सारी कामानाएँ पूर्ण हैं, उन्हें गोपिकाओं की भक्ति की क्या कामना हो सकती है? किंतु भगवान ने अपने इन नियमों का भी अपने भक्तों के लिए बाध कर दिया, यह अर्थ है। इस अर्थ में 'नञ्' प्रत्यय जोड़ देने पर 'अव्रतों को स्पर्श किया', यह अर्थ भी योजित होता है तब, उन गोपियों के संग रमणादि के कर्मों को देखिए, यह उपदेश है। इसी 'यतो व्रतानि पस्पशे' का एक और अर्थ भी हो सकता है। टीकाकार कहते हैं कि, यहाँ 'नञ्' प्रत्यय जोड़ लेने पर 'यतोऽव्रतानि पस्पशे' यों भी माना जा सकता है। जिसका संधि-विच्छेद करने पर 'अव्रतों को स्पर्श किया' यह अर्थ बनेगा। इस अर्थ में टीकाकार समझाना चाह रहे है कि, उपर बताए गये स्पष्टीकरण के अनुसार भगवान ने 'अव्रत' अर्थात् जो उनके व्रत नहीं हैं उनका स्पर्श किया। भगवान के व्रत तो आत्मारामत्व, पूर्णकामत्व आदि हैं। किंतु इनसे विपरीत अव्रतों को किया एवं गोपियों के साथ रमण किया, यह अर्थ है। यहाँ का कोई अर्थविशेष श्री गुसाईंजीने वहीं उपपादित किया है। अतः वही परिभावनीय है, विस्तार भय से यहाँ प्रपञ्चित नहीं कर रहे हैं। इंद्र के युज्यो अर्थात् योज्य अर्थात् अनुकूल सखा हैं। आशय यह है कि प्रभु द्वारा इंद्रयाग भंग करने पर अनेक मेघों से असाधारण वर्षा से इंद्र द्वारा उनका द्रोह करने पर भी, प्रभु ने सर्वसमर्थ होने पर भी द्रोह के हेतु उसके मद को ही दूर किया न कि उसे अथवा उसके अधिकार को। टीकाकार इस श्रुति में आए 'इन्द्रस्य युज्यः सखा'' पद की व्याख्या कर रहे हैं। वे कहते हैं कि, भगवान इंद्र के सखा हैं क्योंकि इंद्र द्वारा भगवद्-द्रोह करने पर भी सर्वसमर्थ भगवान ने इंद्र के उस द्रोह या मद को ही दूर किया न कि इंद्र का वध ही कर दिया। या उससे उसके स्वर्गाधिपति का अधिकार भी नहीं छीना इसी अर्थ में वे इंद्र के सखा हैं। इसके पश्चात् इंद्र से अभिषेक, 'गोविंद' नामधारण द्वारा, इंद्र के समान धर्म होने के द्वारा प्रभु इंद्र के सखा हैं। टीकाकार कहना चाह रहे हैं कि प्रभु इंद्र के सखा इसलिए हैं क्योंकि उनमें एवं इंद्र में समान धर्म हैं। वे समान धर्म कैसे हैं? इसे समझें। सर्वप्रथम तो इंद्र स्वर्ग का अधिपति है एवं देवताओं का राजा है इस कारण उसे 'इंद्र' कहा जाता है। यहाँ प्रभु भी व्रज के अधिपति है एवं चूँकि प्रभु ने इंद्रवर्षा के समय गायों की रक्षा की थी अतः वे गायों के स्वामी भी हैं अतः उन्हें 'गोविंद' कहा जाता है। यह दोनों धर्म समान होने के कारण प्रभु एवं इंद्र सखा हैं, यह अर्थ है।

एवं निरूप्य तत्पूर्वोक्तं विष्णोः लीलास्थानं परमं पदं सूरयो विद्वांसः, तत्त्वं च शब्दब्रह्मपरब्रह्मस्वरूपवित्त्वम् । तत्र परब्रह्मबोधस्तु भक्त्यैवेति सिद्धान्तः, 'भक्त्या मामभिजानाति' 'भक्त्याहमेकया ग्राह्य' इत्यादिवाक्यैः सूरयो भक्ता एव । न'न्वत्राह तदुरुगायस्ये'ति 'सूरयः सदा पश्यन्ती'तिवाक्यैकवाक्यतायां भूमौ तत्परमं पदं भक्ता एव सदा पश्यन्तीत्यर्थोऽवसीयते, एवञ्च काननकालिन्दीतत्पुलिन-गिरिवरगह्वराद्यात्मकत्वेनोद्भूतरूपवन्महच्च । तदेव हि द्रव्यं यच्चाक्षुषं, यन्महत्वे सति उद्भूतरूपवदिति तर्कोक्तिः । तच्चाक्षुषं द्रव्यात्मकं च तत् परमं पदं कथं भक्तैकदृश्यमेव, न साधारणजनगोचरमित्याशङ्कायां दृष्टान्तमाह-दिवीव चक्षुराततम् । दिवि स्वर्गे यथा आ समन्तात् ततं व्याप्तं 'यत्र दुःखेन संभिन्न'मितिवाक्यात्सुखैकसाधनतद्रूपं तत्पदार्थं तत्रस्थानामेव चक्षुः पश्यति नान्येषाम्, तथैतल्लीलामध्य-वर्तिनामेव तद्दृस्यमित्यर्थः । शाखान्तरेपि, 'ता वां वास्तून्युष्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः । अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमवभाति भूरि' । अर्थस्तु, ता तानि, वां युवयोः कृष्णरामयोः गोपीमाधवयोः, वास्तूनि अनेकविधकुञ्जादीन्येव वस्तूनि, गमध्यै प्राप्तुं 'तुमर्थे से स' इत्यनुशासनादेतत् साधु । वृष्णः कामान् वर्षतीति वृषा, तस्य । गोपिकासु कामवर्षकस्य । भूरि बहुरूपं, पदविशेषणम् । अग्रिमार्थस्तूक्त एव । परमपदा'दधिकं तत्रानुप्रविष्टमितिन्यायो ध्वनितः अन्यथा तत्पदमित्येव श्रुतिर्वदेत् । एवञ्च, लक्ष्मीतुल्यतायामपि यथा भक्तेषु तत उत्कृष्टत्वं 'गोप्योन्तरेण भुजयोरपि यत्स्पृहा श्री'रितिवाक्यात् । अत एव 'स्वानन्दानुभवार्थ'मित्यस्य विवरणे श्रीविट्ठलवरै'स्तथा च स्वपदस्य स्वामिनीवाचकस्ये'त्यादि व्याख्यानं कृतम् । तथा च प्रसिद्धतदपेक्षया प्रभो रतिप्रीतिसाधकत्वेनानिर्वच-नीयच्छविविधायकत्वेन च तस्य तथात्वमितिभावः । 'न स्त्रियो व्रजसुन्दर्य' इत्यादि तत्रत्यबृहद्वामनपुराणीयकथाप्युक्तार्थेऽनुसन्धेयेत्यलं विस्तरेण ।

इस प्रकार निरूपित कर उस पूर्व में कहे विष्णु के लीलास्थान परम पद को सूरय अर्थात् विद्वानगण जानते हैं। तत्व यह है कि, वे विद्वान 'शब्दब्रह्म' एवं 'परब्रह्म' के स्वरूप को जाननेवाले होते हैं। वहाँ परब्रह्म का बोध तो भक्ति से ही है, यह सिद्धांत है। ''जो मुझे

भक्ति द्वारा जान लेता है (भ.गी.१८/५५)'', ''एक भक्ति द्वारा ही प्राप्त होता हूँ (श्री.भा.११/४४/२१)'' इत्यादि वाक्यों से 'सूर्यो' भक्त ही हैं। यहाँ शंका करते हैं कि, 'अत्राह तदुरुगायस्य' एवं 'सूरयः सदा पश्यन्ती' इन दोनो वाक्यों में एक वाक्यता होने पर भूमि पर उनके परमपद अर्थात् श्रीमद्गोकुल को भक्त ही सदा देखते हैं, यह अर्थ प्रकट होता है। एवं इस प्रकार वन, यमुनाजी, उनका तट, सधन गिरिवर आदि आत्मस्वरूप से प्रकट होने के कारण बड़े है।

यहाँ एक शंका यह होती है कि उपर कहे अर्थ में तार्किकों का मत यह है कि 'द्रव्य' उसे ही कहा जाता है जो चाक्षुष हो या चक्षु से देखा जा सकता है। एवं जब तक वह द्रव्य प्रकट में नहीं है तब तक वह महत्वपूर्ण भी नहीं बन सकता। अतः वह व्रज जो चाक्षुष भी है एवं द्रव्यात्मक भी है। वह चाक्षुष इस कारण है क्योंकि उपर कही श्रुति में यह कहा गया कि, 'उसे भक्त सदा देखते हैं' एवं उस व्रज को द्रव्यात्मक इसलिए कहा जा रहा है क्योंकि, उपर व्रज में स्थित सभी पदार्थों का वर्णन है। व्रज के लिए कहा जाता है कि श्रीगोवर्धनपर्वत मणि माणिक्य से भरपूर है। गोविंदकुंड दूध से भरा हुआ है आदि, तो अब यहाँ शंका यह होती है कि यदि वह व्रज चाक्षुष भी है एवं द्रव्यात्मक भी तो फिर उसे केवल भक्त ही क्यों देख सकते हैं? वह साधारण जनों को दृष्टिगोचर क्यों नहीं होता? यह शंका होने पर उपर कही श्रुति में आए 'दिवीव चक्षुराततम्' इन शब्दों से समाधान किया जा रहा है। यहाँ यह समझना चाहिए कि 'दिवि' अर्थात् स्वर्ग के लिए कहा जाता है कि, 'जो दुःखों से भिन्न हो'। अतः इस वाक्य से इन सुखों के साधनरूप उस स्वर्ग के पदार्थों को केवल स्वर्ग में रहनेवाले ही देख सकते हैं, अन्य नहीं। उसी प्रकार भगवान की लीला के जो मध्यपाती हैं, वही व्रज के इस अलौकिक दृश्य को देख सकते हैं, अन्य नहीं। यह अर्थ है। वेद की अन्य शाखा में भी 'ता वां...भूरि' यह कहा है। इस वाक्य का अर्थ यह है कि 'ता' अर्थात् वे धाम। 'वा' का अर्थ होता है 'रामकृष्ण की' या 'गोपीमाधव' की वस्तुएँ अर्थात् कुंज-उपवन आदि अनेक वस्तुएँ 'गमध्यै' अर्थात् प्राप्त करने के लिए। गमध्यै का अर्थ होता है 'प्राप्तुं' अर्थात् 'प्राप्त करने के लिए'। यहाँ प्राप्तुं शब्द में 'तुमर्थे से स' इस सूत्र से 'तुमुन्' प्रत्यय लगा है। जिस कारण वह इस अर्थ में उचित बैठ गया है। 'वृष्णः' शब्द का अर्थ कर रहे हैं। काम की जो वर्षा करे वह 'वृषा' है; उनको अर्थात् गोपिकाओं में जो काम की वर्षा करने वाले है उनको प्राप्त करने की हम कामना करते हैं। 'भूरि' शब्द का अर्थ है 'बहुरूपी'। यह वैकुंठात्मक श्रीमद्-गोकुल-परमपद' का विशेषण है। आगे का अर्थ तो पहले कह ही दिया है। 'परमपद' शब्द 'अधिकं तत्रानुप्रविष्टं' इस न्याय को ध्वनित कर रहा है जिस न्याय का अर्थ होता है, ''चाहे कितना भी कह लें किंतु कही वस्तु तो कहे से भी अधिक है।'' अन्यथा यदि श्रुति को 'परमपद' द्वारा श्रीमद्-गोकुल की महिमा न बतानी होती तो वह 'परमपद' न कह कर 'उस पद' यह कह देती। और, इस व्रज की तुलना लक्ष्मीजी से करने पर भी भक्तों के लिए तो व्रजभूमि ही उत्कृष्ट है। यही बात ''जिसके लिए स्वयं लक्ष्मी को स्पृहा रहती है (श्री.भा. १०/१५/८)'' इस श्लोक में कही है। अतएव श्रीगुसाईजी ने 'स्वानन्दानुभवार्थ' इस श्लोक के विवरण में ''स्व' पद स्वामिनी का वाचक है'' इस प्रकार से व्याख्यायित किया है। एवं यह प्रसिद्ध है कि व्रज प्रभु में अति प्रेम का साधक होने के कारण एवं प्रभु की अनिर्वचनीय छवि का द्योतक होने के कारण उसकी उत्कृष्टता कही गई है, यह अर्थ है। इसी व्रजभूमि के माहात्म्य को बताते हुए ब्रहद्वामनपुराण में नारद जी ब्रह्मा जी से कह रहे हैं कि, 'व्रजगोपिकाएँ मात्र स्त्री ही नहीं हैं अपितु वे तो वेद की श्रुतियाँ हैं'' अतः यहाँ तक हमने यह बात अधिक विस्तार से कह दी।

प्रस्तुतमनुसरामः । एतादृशस्याधिपो भजनीयः सव्य इत्यर्थः । सेवा हि सेवकस्यैव धर्मः । 'भज' धातोः स एवार्थो निरूढः । तथा चाशेषजीवानां सहजदासत्वमसूचि । तदकरणे तद्दण्डयोग्याश्च त इत्यपि । उक्तमेवोद्घाटयन्ति स्वस्येति । स्वस्य भगवदीयस्यायमेव भजनाख्य एव धर्मो न तु मार्यादिकः स इतिभावः । एवकारस्तु पुरुषोत्तमभजनधर्मातिरिक्तधर्ममात्रव्यवच्छेदकः । अथवा स्वस्यैवायं धर्मो नेतरेषाम् । तेन भगवदीयव्यतिरिक्ता निवारिताः । ततो गोपनमप्यसूचि । अत एव 'न बुद्धिभेदं जनयेत्', 'त्वं च रुद्र महाबाहो मोहशास्त्राणि कारये'त्यादि भगवद्भाषितम् । एतदर्थमेव शङ्करप्रभृतीनामुद्भवः । यद्वा, अयं धर्म एव भगवदीयस्य सर्वपुरुषार्थसाधकस्तत एव सजातीयार्थादित्रितयसिद्धेः । अथवाऽयं धर्म एव स्वस्य तथा, न ज्ञानादयः । 'तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्ये'तिवाक्यतः । हिशब्दः कैमुतिकन्यायेन युक्तार्थं ध्वनयति ।

अब प्रस्तुत विषय की चर्चा करें। ऐसे व्रज के अधिप भजन करने योग्य हैं अर्थात् सेव्य हैं, यह अर्थ है। सेवक का धर्म निश्चितरूप से सेवा ही है। 'भज्' धातुका यही निगूढ़-अर्थ है। इस प्रकार, संपूर्ण जीव का प्रभु के प्रति दासत्व है, यह सूचित किया है। एवं, सेवा न करने से वे दंड के योग्य भी होते हैं। यही कहे हुए अर्थ को **स्वस्य** इन शब्दों से स्पष्ट कर रहे हैं। **स्वस्य** अर्थात् भगवदीयों का यह भजन ही धर्म है, न कि मर्यादामार्ग में बताया गया धर्म है, यह भाव है। इस कारिका में प्रयुक्त हुआ 'एव' शब्द पुष्टिपुरुषोत्तम के भजन के अतिरिक्त अन्य सभी धर्म मात्र को निरस्त करने के लिए है। अथवा स्वयं का पुष्टिमार्गीय होने के नाते यही धर्म है, अन्यः मर्यादामार्गीयों का यह धर्म नहीं है। इस 'स्वस्य' पद से भगवदीयों से अतिरिक्त अन्यों को निवारित कर दिया गया है। इससे हमारा संप्रदाय गुप्त है एवं केवल शुद्धपुष्टिमार्गीयों के लिए ही है, यह गोपनीयता भी सूचित की है। अतएव 'बुद्धिभ्रम न उत्पन्न करे (भ.गी. ३/

२६)'' ''हे रूद्र महाबाहु ! मोहशास्त्र करिए ''(वा.पु.७०/३६)'' इत्यादि वाक्य भगवान ने कहे हैं। प्रभु की इसी गोपनीयता के लिए मायावादी शांकरों का प्रादुर्भाव है, जिससे प्रभु अपनी लीला का गोपन कर दें। अथवा, सर्वदा....कदाचन इस पंक्ति का यह अर्थ है कि यही व्रजाधिप का भजनरूपी धर्म भगवदीयों के समस्त पुरुषार्थ का साधक है। अतएव इस धर्म के सजातीय अन्य अर्थ-काम-मोक्ष की सिद्धि हो जाती है। अथवा, हमारा यही मात्र एक धर्म ऐसा है जो शेष तीन पुरुषार्थों की सिद्धि करा देता है, ज्ञानादि अन्य धर्म नहीं करा सकते, यह 'अतएव मेरी भक्ति से युक्त को (श्री.भा. १०/२०/३१)'' इस वाक्य से कहा है। 'स्वस्य अयमेव धर्मो हि' में आया 'हि' शब्द कैमुतिकन्याय से युक्त अर्थ को ध्वनित कर रहा है।

भगवता गीतायां 'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज । अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच' इति स्वधर्मातिरिक्तसर्वधर्मपरित्यागपूर्वकं निजशरणमुपदिष्टं, तत्फलं च पापमोचनमुक्तं, न स्वरूपसम्बन्धादिकमतोऽयमुक्तमार्गो मार्यादिक एव स इत्येवं निश्चीयते । इतरथा स्वयमपि पापमोचनमेव फलत्वेन नोक्तं स्यात् । एवञ्च यत्र निखिलधर्मतो मर्यादामार्गीयोपि शरणमार्गः साधीयाँस्तत्र फलमार्गीयभक्तिमार्गोक्तप्रकारेण सेवाकरणं, तत्रापि श्रीपुरुषोत्तममुखारविन्दविरचितपद्धत्या, सुतरां तदात्मजनिर्मितरीत्या, सेव्योपि श्रीकृष्णः सदानन्दः फलात्मकस्तत्राप्युक्तभावेन भजनं सर्वधर्मपरित्यागपूर्वकं सर्वोत्कृष्टपरमफलं स्वरूपानन्दात्मकमिति किं वाच्यमिति । अतः सर्वात्मनाऽन्यं निराकुर्वन्ति नान्यः क्वापि कदाचनेति । अन्यः प्रेरणादिलक्षणो धर्मो न भगवदीयो भवतीत्यर्थः । मार्यादिकत्वाद्भगवदीयैर्न कार्य इति भावः । क्वापीति देशाश्रमापरिच्छेद उक्तः । कदाचनेति कालापरिच्छेदश्च । उक्तप्रकारेण दासैस्तद्दास्यमेव विधेयमितिभावः । अत एव 'भक्तिमार्गे हरेर्दास्यं धर्म' इति तन्मार्गमर्मज्ञैर्दास्यमेव धर्मत्वेनोक्तम् । अत एव वृत्रासुरेणापि. दृष्टपुष्टिफलेन 'अहं हरे तव पादैकमूलदासानुदासो भवितास्मि भूय' इति प्रभुं प्रति तदेव प्रार्थितं नेतरत् । प्रभुसाक्षात्कारे साक्षात्तत्प्रार्थनमनुचितं भक्तस्येति परम्परया तत्प्रार्थनम् । एतेन स्वस्य दीनभावो दर्शितः । प्रभुसन्तोषाधायको यतस्तादृग्भाव एवात एव 'भक्तानां दैन्यमेवैकं हरितोषणसाधनमि'ति भाषितं प्रभुचरणैः ॥ १ ॥

भगवान ने गीता में ''सब प्रकार के धर्मो को त्याग कर एकमात्र मेरी शरण में आ जा। मैं तुझे सभी पापों से मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर (भ.गी. १८/६६)'' इस वाक्य से स्वधर्म के अतिरिक्त सभी धर्मों के त्यागपूर्वक स्वयं की शरणागति उपदिष्ट की है, उस शरणागति का फल 'पापमोचक' कहा है, स्वयं के स्वरूप से संबंध को नहीं। अतः यह कहा मार्ग 'मार्यादिक' ही है, यह इस प्रकार निश्चित होता है। अन्यथा स्वयं भगवान भी 'पापमुक्ति' को फलरूप से न कहते। और, जहाँ समस्त धर्मों की अपेक्षा मर्यादामार्गीय शरणमार्ग भी साधना चाहिए, वहाँ फलमार्गीय भक्तिमार्ग में कहे प्रकार से सेवा करनी एवं वह भी श्रीपुरुषोत्तम के मुखारविंदस्वरूप श्रीमहाप्रभु द्वारा विरचित पद्धति से एवं वह भी उनके आत्मज श्री प्रभुचरण द्वारा निर्मित रीति से और जहाँ सेव्य भी कोई अन्य नहीं किंतु सदानंद-फलात्मक श्रीकृष्ण हैं एवं उस पर भी श्रीमहाप्रभु द्वारा कहे सर्वात्मभाव से सर्वधर्म के परित्यागपूर्वक भजन सर्वोत्कृष्ट-परमफल यदि स्वरूपानंदात्मक हो तो इसमें क्या कहना? अतः सभी प्रकार से अन्य सभी धर्मों का निराकरण **नान्यः क्वापि कदाचन** इन शब्दों से कर रहे हैं। **अन्यः** अर्थात् ऐसे धर्म जिसमें प्रवृत्त होने की प्रेरणा करनी पड़े ऐसे लक्षणवाले धर्म भगवदीयों के धर्म नहीं है क्योंकि यह पुष्टिधर्म तो प्रभु के सहजदास होने के कारण सहजरूप से ही करना है अतः इसमें किसी प्रेरणा की अपेक्षा नहीं है। प्रेरणा से किया जाता धर्म मर्यादामार्गीय होने के कारण भगवदीयों को नहीं करना चाहिए, यह भाव है। **क्वापि** इस पद से यह कहना चाह रहे हैं कि, यह भजन किसी भी देश या आश्रम से ढँका नहीं है अर्थात् कहीं भी, कोई भी इसे कर सकता है। एवं **कदाचन** इस पद से काल का अपरिच्छेदन कहा है अर्थात् यह भजन किसी भी समय किया जा सकता है, यह अर्थ है। उपर कहे गये प्रकार से सेवकों को प्रभु का दास ही होना चाहिए, यह भाव है। अतएव 'पुष्टिमार्ग में हरि की दासता 'धर्म' है (वृत्रा. चतु./श्री महाप्रभु कारिका)'' यह उस मार्ग के मर्मज्ञ श्रीमहाप्रभु ने प्रभु की दासता को ही धर्मतया कहा है। अतएव वृत्रासुर ने भी ''हे हरि ! आपके चरणकमलों का दास का दास बनूँ (श्री.भा. ६/११/२४)'' इन वाक्यों से प्रभुप्रति यही प्रार्थना की, अन्य नहीं। प्रभु का साक्षात्कार होने पर साक्षात् प्रभु का दास होने की प्रार्थना की, अन्य नहीं। प्रभु का साक्षात्कार होने पर साक्षात् प्रभु का दास होने की प्रार्थना भक्त के लिए अनुचित है अतः परंपरा से वृत्रासुर ने सर्वप्रथम प्रभु के दास का दास होने की प्रार्थना की, सीधे-सीधे साक्षात् प्रभु का ही दास होने की नहीं। इससे, उसने स्वयं का दीनभाव प्रदर्शित किया है। क्योंकि वैसा दीनभाव ही प्रभु को संतोष देनेवाला है अतः 'भक्तों का दैन्य ही केवल हरि की संतुष्टि का साधन है' यह प्रभुचरणों ने कहा है ॥ १ ॥ (सुबो./२९/१; का./२) ॥ १ ॥

एवं श्रीपुरुषोत्तमस्य भक्तिमार्गीयप्रथमपुरुषार्थरूपत्वं सोपपत्तिकं निरूप्य तस्यैवार्थरूपत्वं प्रतिपादयन्ति एवमिति ।

एवं सति स्वकर्तव्यं स्वयमेव करिष्यति ।
प्रभुः सर्वसमर्थो हि तेन निश्चिन्ततां व्रजेत् ॥ २ ॥

एवं सति उक्तप्रकारेण भजनरूपे धर्मे क्रियमाणे सति । स्वकर्तव्यं स्वामिकार्यं यत्तत्स्वयमेव स्वाम्येव करिष्यति न तु तदंशावतारादि । अतः प्रभोः स्वातन्त्र्यमप्यसूचि । न जीववत्केवलं पारतन्त्र्यमेव । 'अहं भक्तपराधीन' इत्यादिवाक्यैः कालादिनियामकस्य प्रभोस्तत्केवलं स्वभक्तमाहात्म्यावबोधनायैव नान्यथा । अत एव 'ह्यस्वतन्त्र इव द्विजे'ति तद्वाक्ये इवशब्दः । अस्वतन्त्र इव, नत्वस्वतन्त्र एवेति ध्वनयतैव भगवता तथोक्तमित्यवसीयते । भक्तवात्सल्यतोपि क्वचित्तथा, अत एव दामोदरलीलापि । 'यस्य च भावेन भावलक्षण'मित्यनुशासनात्सतीति सप्तमी । ततः स्नेहेनावच्छेदतो दास्यकरणेऽव्यभिचारि नित्यं स्वामिकर्तव्यमिति च ध्वनितम् । नपुंसकलिङ्गोक्त्या स्वयमित्यव्ययोक्तेश्च प्रभुकृतेर्वास्तवत्वमानन्ददायकत्वमविकारित्वं च । अन्यथैवं कृते कृत्येति वा ब्रूयुः । स्वकृतीरिति च ।

इस प्रकार श्रीपुरुषोत्तम के भक्तिमार्गीय प्रथमपुरुषार्थरूप 'धर्म' को प्रमाणसहित निरूपित कर उसका ही अर्थरूप **एवम्** इन शब्दों से प्रतिपादित कर रहे हैं।

एवं सति अर्थात् कहे गये प्रकार से भजनरूप-धर्म को करने पर **स्वकर्तव्यं** अर्थात् स्वामी के जो कार्य हैं वह **स्वयमेव** अर्थात् स्वामी ही करेंगे, न कि उनके अंशावतार आदि। अतः इससे प्रभु की स्वतंत्रता भी सूचित की है, जिसका अर्थ यह है कि प्रभु उनके जीव के प्रति सारे कर्तव्य स्वयं की स्वतंत्रता से ही करेंगे न उनके अवतारों के द्वारा एवं न ही प्रार्थना द्वारा। वे जीव के भाँति परतंत्र नहीं हैं। 'मैं भक्त-पराधीन हूँ (श्री.भा. ९/४/६३)'' इत्यादि वाक्य तो कालादि के नियामक प्रभु का अपने भक्तों के माहात्म्य का अवबोध कराने के लिए ही हैं, अन्यथा नहीं। अतएव 'मैं अस्वतंत्र के जैसा हूँ' इस वाक्य में 'के जैसा' यह शब्द है। ''अस्वतंत्र के जैसा हूँ, न कि अस्वतंत्र ही'' यह अर्थ ध्वनित करते हुए भगवान ने कहा, यह समझ लेना चाहिए। कहीं-कहीं ऐसी पराधीनता प्रभु अपने भक्तों के वात्सल्य के कारण भी स्वीकार कर लेते हैं अतएव प्रभु ने दामोदरलीला भी की एवं वे तुच्छ रस्सी से बँध भी गये। यहाँ इस दूसरी कारिका में आए 'सति' शब्द में 'भाव के द्वारा भावलक्षण' इस सूत्र के द्वारा 'सति सप्तमी' प्रयुक्त हुई है। इससे, यह भक्तिमार्ग स्नेह से परिपूर्ण होने के कारण इस प्रकार प्रभु का दास्य स्वीकारने पर प्रभु का भी स्वामीकर्तव्य नित्य है, यह ध्वनित होता है। इसी कारिका में **स्वयम्** शब्द भी आया है जो नपुसकलिंग है एवं वह अव्यय भी है। यहाँ **स्वयं** शब्द में इन दोनों का प्रयोग यह बता रहा है कि प्रभु की करनी में वास्तविकता है, वे आनंददायक एवं अविकारी हैं। अन्यथा 'एवं सति स्वकर्तव्यं' आदि शब्दों का प्रयोग न करके 'ऐसा करने पर' या 'ऐसा करके' इस प्रकार कह देते। किंतु 'स्वकर्तव्यं' शब्द का ही प्रयोग किया जिससे प्रभु की 'स्वयं की कृति' भी कही जा रही है।

ननु श्रीमदस्मदाचार्यवर्यचरणसरसिजरजोभूषणभूषितैस्सेवकैर्वाङ्मधुद्रवास्वादितस्वान्तैस्तद्विश्वासेन तत एव 'किमलभ्य'मित्यादिवाक्यार्थानुसन्धानतः प्रार्थनमन्तरेण भजनोपयोगिनिखिलपदार्थसम्पत्त्या तादृग्भावेन स्वभाग्यसौभाग्यसञ्चयमिव तद्भजनं कर्त्तव्यमेव, परन्त्वाधुनिकानां तत्स्वरूपानभिज्ञतया तदनुभवाभावाच्च जीवधर्मत्वेन कदाचिदविश्वासेनोत्कृष्टसेवासाधनरूपतनुजवित्तजसेवासिद्ध्यर्थमर्थापेक्षायां तत्र प्रयत्ने कृते कदाचिद्बाहिर्मुख्यसेवाप्रतिबन्धौ च स्याताम्, 'त्रैवर्गिकायासे'तिवाक्यात्मभुकृतप्रतिबन्धोपि सम्भवेत् । न च सेवार्थं यत्ने क्रियमाणे न भगवत्कृतप्रतिबन्धः, अत एव 'त्रैवर्गिके'तिपदम्; आयासमात्रविघातहेतुत्वे 'त्रैवर्गिके'तिपदं न वदेत्; अतो भजनार्थं यत्ने कृतेपि न दोषः; मर्यादाप्रवाहसंवलितानामेव बाहिर्मुख्यादिभावो, न पुष्टावङ्गीकृतानामिति वाच्यं, नवरत्ने 'कापी'तिपदव्याख्यानेऽस्मत्प्रभुचरणैरेवैतदुत्तरितत्वात् । अपरञ्च, भगवान् पूर्णपुरुषोत्तमः सर्वकरणसमर्थोपि स्वसेवार्थमप्यर्थयत्नसापेक्षश्चेत्तत्सेवायामेव को विशेषोऽन्यसेवैव कुतो न कार्या, यत्नायासस्य तुल्यत्वात् । तस्याक्लिष्टकर्मत्वं च भज्येत । बाहिर्मुख्यसेवाप्रतिबन्धौ च कथञ्चिदपि दुर्निवारौ स्याताम् । स्वामिकृतप्रतिबन्धस्याप्यतिबलिष्टत्वतः स्वकृतोपि प्रयत्नोपि व्यर्थः स्यात् । वस्तुतस्तु अस्मिन्फलमार्गीयभक्तिमार्गे सेवैव धर्म इति राद्धान्तः । अत एवात्रैव ग्रन्थेऽस्मत्प्रभुभाषणसुधाधारा, 'स्वस्यायमेव धर्मो ही'ति । इतोऽपि स न कार्य एवेत्युक्तं भवति । 'योगक्षेमं वहाम्यह'मितिवाक्यं च व्याकुप्येत । 'तुष्यतु दुर्जन' इतिन्यायेनास्तु वा मार्यादिक एव स तथा'प्यधिकं तत्रानुप्रविष्टं न तु तद्धानिः' ।

यहाँ एक शंका यह होती है कि, हमारे श्रीमद्-आचार्यवर्यचरणकमल की रजरूपी भूषण से भूषित सेवकों ने जिनका अंतःकरण उनकी वाक्सुधा-रस से आस्वादित है, ऐसे सेवकों ने उन श्रीमहाप्रभु पर विश्वास से 'क्या अप्राप्य' है? (श्री.भा. १०/३९/२)'' इत्यादि वाक्यों के अनुसंधान से प्रार्थना के बिना ही भजन में उपयोगी समस्त पदार्थों की संपत्ति द्वारा सर्वात्मकभाव से अपना सौभाग्यसंचयरूपी भजन ही किया किंतु आधुनिक जीवों को उन श्रीमहाप्रभु के स्वरूप का ज्ञान न होने से एवं वैसा अनुभव न होने से; चूँकि जीव तो दुष्ट है अतः जीव का धर्म दुष्ट होने के कारण कदाचित उन पर अविश्वास होने से उत्कृष्टसेवा के साधनरूप तनुवित्तजा सेवा की सिद्धि की अपेक्षा धन की सिद्धि के लिए प्रयत्न करने पर कदाचित् बहिर्मुखता एवं सेवाप्रतिबंध भी हो सकते हैं एवं साथ ही साथ 'त्रैवर्गिक आयास (श्री.भा. ६/११/२३)'' इन वाक्यों से प्रभु द्वारा किए गये प्रतिबंध भी संभव हो सकते हैं। यहाँ इस श्लोक में विशेष यह

समझना चाहिए कि सेवा के लिए यत्न करने पर भगवान द्वारा प्रतिबंध नहीं होता क्योंकि इसी कारण इस श्लोक में त्रैवर्गिक पद दिया है जिसका अर्थ यह है कि भगवान जीव के धर्म-अर्थ एवं काम पुरुषार्थ की परीक्षा लेने के लिए जीवन के प्रयत्न विफल कर देते हैं किंतु सेवा के लिए किए गये पुरुषार्थ को नहीं। यदि प्रयत्नमात्र का विधान करते तो 'त्रैवर्गिक' पद न कहा होता। अतः लौकिक प्रयत्न भी यदि भगवत्सेवा के लिए किए जाएँ तो उनमें कोई भी दोष नहीं है; मर्यादा मार्ग एवं प्रवाहमार्ग से जुड़े लोगों में ही बहिर्मुखता का भाव उत्पन्न होता है न कि पुष्टिमार्ग में अंगीकृत जीवों को। क्योंकि नवरत्न में 'कोई भी' इस पद के व्याख्यान में हमारे श्रीगुसाईजी ने ही इसका उत्तर दे दिया है। और भगवान तो पूर्णपुरुषोत्तम हैं, सभी करने में समर्थ भी हैं तो भी यदि वे अपनी सेवा के लिए भक्त द्वारा किए प्रयत्नों की अपेक्षा रखें तो फिर उनकी सेवा करने में क्या विशेषता है? इससे तो अच्छा अन्य देवताओं की ही सेवा क्यों न कर ली जाय? क्योंकि यहाँ यत्न करना एवं वहाँ प्रयत्न करना, दोनों एक समान ही है। यदि ऐसा ही हो जाय तो प्रभु का विघ्नहर्ता स्वरूप ही भंग हो जायेगा। फिर तो बहिर्मुखता एवं सेवाप्रतिबंध किसी भी प्रकार से दुर्निवार हो जायेंगे। यहाँ यह भी समझें कि, स्वामीद्वारा किया गया प्रतिबंध अतिबलिष्ठ होने के कारण जीवद्वारा किया गया अल्प प्रयत्न तो व्यर्थ ही होता है। वास्तव में तो इस फलमार्गीय भक्तिमार्ग में 'सेवा ही धर्म है' यह सिद्धांत है। अतएव इसी ग्रंथ में हमारे श्रीमहाप्रभु की 'स्वयं का यही धर्म है' इस प्रकारक सुधाधारा है। इस कारण भी जीव को वे प्रयत्न नहीं करने चाहिए, यह कहा है। अन्यथा 'योगक्षेम का मैं वहन करता हूँ (भ.गी. ९/२२)'न इत्यादि भगवद्-वाक्य क्रोधित हो जायेंगे। अथवा, यदि जीव प्रयत्न करे ही, तब भी, 'दुर्जनों को सर्वप्रथम संतुष्ट करना चाहिए'' इस न्याय से प्रभु पर अविश्वास रखनेवाले ऐसे जीवों को प्रयत्न की छूट दे भी जाय तो भी वह मयार्दामार्गीय ही होगा एवं फिर भी अधिकं इस न्याय से यह पुष्टिमार्ग उपर कहे गये से भी अधिक ही है, यह जानना चाहिए।

अत्रायमभिसन्धिः, परमकारुण्यैकसिन्धुः श्रीगौकुलजनैकजीवनः स्वाश्रितस्य स्वल्पमप्यायासमसहमान एव सर्वकरणसमर्थस्तत्प्रयत्नमन्यथाकरोति स्वस्मिन्विश्वासदार्ढ्याय नान्यथा । तथा च यत्र मर्यादाप्रवाहसंवलितानामपि भक्तानां यत्किञ्चक्लेशासहिष्णुः करुणाकोमलो हरिस्तत्र पुष्टावेवाङ्गीकृतस्य यत्किञ्चिदपि तदसहिष्णुः श्रीमद्गोकुलजनलोचनचकोरचन्द्र इति किं वाच्यमत एव 'किमलभ्यं भगवति प्रसन्ने श्रीनिकेतने' इति वचनामृतं च । 'भगवदर्थापि सा न कार्ये'त्युक्तं नवरत्नेऽस्मत्प्रभुचरणैरत एव । किञ्च, व्रजरत्नानामपि निजनाथनिदेशतोपि न निजव्रजगृहगमनमपि । यत्रैवं सूक्ष्मेक्षिका तत्रेतरेषां बाहिर्मुख्यादौ का वार्ता । अत एव तामसप्रकरणीयफलप्रकरणे 'यर्ह्यम्बुजाक्षे'तिश्लोके व्रजरत्नैर्निरुक्तं यत्प्रभृति त्वत्पादतलमस्प्राक्ष्म तत्प्रभृति वयमञ्जसा अन्यसमक्षं स्थातुं न पारयामः । विवृतं चैतदस्मत्प्रभुचरणै'र्यथा देहाभिमानी व्याघ्रस्य देहविघातकत्वात्तत्संनिधौ स्थातुं न शक्नोती'ति । एवं च सर्वथोक्तदोषसम्भवभयतो न प्रयत्नं कुर्यात् । अकृते तस्मिन्सेवासाधनानुपलब्धिस्तदनुपलब्धौ भजनोच्छेदस्तदुच्छेदे स्वधर्मात्यन्ताभावादुक्तोपदेशे घट्टकुटीप्रभातवृत्तान्तो वृत्त इति निजजनस्वान्तभ्रान्तिमपनयन्तः प्रवदन्ति-स्वयमेवेति । स्वयं प्रभुरेव सर्वं करिष्यति । स्वाश्रितजनयत्नमन्तरेणापि भजनापेक्षितसकलपदार्थान्संपादयिष्यतीत्यर्थः । सेवकैः सेवोपयोगिसमस्तपदार्थार्थित्वेनेतरतोऽर्थार्थनेन मनो व्याकुलं न विधेयम् ।

यहाँ यह समझना चाहिए कि परमकरूणासागर-श्रीगोकुलजनों के जीवन प्रभु स्वयं पर आश्रित जीवों के अल्प प्रयत्न को भी सहन नहीं करते हैं, ऐसे सर्वसमर्थप्रभु उनसके प्रयत्नों को यदि विफल कर देते हैं तो वह स्वयं पर विश्वास की दृढ़ता के लिए करते हैं, अन्य किसी कारण से नहीं। एवं, जहाँ मर्यादा से जुड़े भक्तों के भी क्लेश को हरि सहन नहीं करते हैं वहाँ पुष्टि में अंगीकृतों के यत्किंचित् क्लेश भी यदि श्रीमद्गोकुलजनों के नेत्ररूपी चकोर के चंद्र प्रभु न सहन करें तो इसमें क्या कहना? अतएव ''लक्ष्मी के आश्रयस्थान-भगवान के प्रसन्न हो जाने पर क्या अप्राप्य है? (श्री.भा. १०/३९/२)'' इत्यादि वाक्य भी हैं। अतएव नवरत्न में हमारे प्रभुचरणों ने 'भगवान के लिए भी वह चिंता नहीं करनी चाहिए'' यह कहा है। इसी कारण व्रजरत्ना-गोपिकाओं ने प्रभु के वापर घर लोट जाने का निर्देश पाकर भी (देखें श्री.भा. दशमस्कंध, उनतीसवाँ अध्याय) घर नहीं गईं। जहाँ पुष्टिमार्ग की गुरू कहलानेवाले गोपिकाओं के लिए इतनी सूक्ष्मदृष्टि है कि यदि वे भी भगवान को छोड़कर चली जाती तो वे भी दोष को भागी बनतीं। वहाँ अन्य जीवों की बहिर्मुखता के लिए क्या कहना? अतएव तामसप्रकरण के फलप्रकरण में 'हे कमलनयन! (श्री.भा. १०/२९/३६)'' इस श्लोक द्वारा व्रजरत्नाओं गोपिकाओं ने कहा है कि, जो प्रभृति तुम्हारे चरणकमलों से स्पर्शित है वह प्रभृति अन्य के समक्ष रहने में असमर्थ है। इसी को हमारे श्रीमहाप्रभु ने 'जैसे कोई देहाभिमानी देहविघातक सिंह के समक्ष नहीं रह सकता'' यह कहा है। इसी कारण जीवन द्वारा प्रयत्न करने में सभी प्रकार से दोष की संभावना है अतः प्रयत्न नहीं करना चाहिए। यहाँ एक शंका यह होती है कि जीव के प्रयत्न न करने पर प्रभु की सेवा के साधन अनुपलब्ध हो जायेंगे? वह अनुपलब्ध होने पर भजन में विच्छेद पड़ जायेगा? और भजन में विच्छेद पड़ने पर स्वधर्म का संपूर्ण नाश अत्यंताभाव हो जायेगा। अतः यह आपका कहा हुआ उपदेश अनुसरण करने पर तो 'घट्टकुट्टीप्रभात वृत्तांत' की भाँति परिस्थिति हो जायेगी। यहाँ 'घट्टकुट्टीप्रभात' को समझें। यह एक न्याय है। 'घट्ट' का अर्थ होता है नदी का घाट। कुट्टी का अर्थ होता है 'कुटिया' एवं प्रभात अर्थात् सवेरा। कहीं किसी राजा ने यह नियम बना दिया कि जो इस घाट पर आयेगा उसे इस घाट के निकट

बनाई गई कुटिया में कर देना पड़ेगा। अब कोई यात्री उस कर से बचने के लिए अँधेरे में कच्चे रास्तों से रात भर चलता रहा किंतु प्रभात होने पर देखता क्या है कि, वह वहीं घाट के किनारे कुटिया के पास आ पहुँचा है। इसे कहते हैं घूमफिर कर वहीं लौट आना। टीकाकार इस उठी शंका को इस न्याय से समझाना चाह रहे हैं, यह अर्थ है। इससे निजजनों के अंतःकरण की भ्रांति को **स्वयमेव** यह कहकर दूर कर रहे हैं। स्वयं प्रभु ही सब करेंगे। स्वयं के आश्रितजनों के यत्न के बिना भी भजन में अपेक्षित समस्त पदार्थों का संपादन करेंगे, यह अर्थ है। सेवक चूँकि केवल सेवा में ही उपयोगी समस्त पदार्थों के इच्छुक होते हैं। अतः अन्य प्रकार से धन की इच्छा करने के द्वारा मन को व्याकुल नहीं करना चाहिए।

अत्रायमाशयः, आश्रयान्तररहितः स्वाश्रितजनो यदि भजनानुकूलनिखिलन्यासपुरस्सरं तदनुकूलसकलवस्तुविकारतो निजभजनमेव सर्वतोऽधिकं फलरूपं स्वसर्वस्वं ज्ञात्वा विदधाति तदा सर्वात्मरूपः फलात्मा सर्वकरणसमर्थः कालादिनियामको भगवान्पूर्णानन्दो हरिः परमकृपालुर्यतो यत्किञ्चिदपि स्वकीयपरिश्रमासहमान एव स्वसेवासाधकमेव तदपेक्षितसमस्तसामग्रीरूपं कुतो न विदध्यात् । अन्यथा 'योगक्षेमं वहाम्यह'मितिदृढप्रतिज्ञां न वदेदेव प्रभुरकुतोभयः । अप्राप्तस्य प्रापणं योगः । प्राप्तस्य परिपालनं क्षेम इति तयोरर्थः । यद्वा, स्वयमेव स्वत एव सर्वं करिष्यति प्रार्थनानपेक्षः । एतेन सेवकैर्न प्रभुः प्रार्थनीय इतिभावः । अत एव 'निजेच्छातः करिष्यती'ति नवरत्नेऽस्मत्प्रभुचरणैर्गीतं, 'प्रार्थिते वा ततः किं स्या'दिति विवेकधैर्याश्रयग्रन्थे च । यद्वा, स्वयमेवेत्यादि पूर्ववत्, न कस्यचित्प्रेरणया देवतान्तरद्वारा वा । कालादिदेवतान्तरप्रेरकोऽपि हरिरेवेति भावः । अस्मिन्नर्थेऽत्रायोगव्यवच्छेदक एवकारः । अथवा सेवकप्रार्थनस्य दोषावहत्वात्तत्प्रार्थनमन्तरेणैव ततः पूर्वमेव तदभिलषितं कुर्वन्न तत्प्रार्थनावासनां समीक्षते । अन्यथा 'यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक्', 'आशासानो न वै भृत्य' इत्यादिवाक्यैस्तत्सेवकत्वहानौ स्वस्वामित्वभावस्तत्र दुर्लभ इतिभावः । एतेन प्रभोः परमभक्तपरमहितकारित्वं समसूचि । अत एव 'योगक्षेमं वहाम्यह'मितिवाक्यम् । यद्वा, स्वयं करिष्यत्येवेति क्रियया सहान्वयेनात्यन्तायोगव्यवच्छेदक एवकारस्तेन प्रभुविश्वासेनैव सेवकैः स्थेयमतोऽस्मिन्मार्गे तदभाव एव परमबाधकः । अत एव विश्वासतदभावयो'र्ब्रह्मास्त्रचातकौ भाव्या'विति तयोरनुसन्धानं तत्रैवोक्तम् ।

यहाँ इसका आशय यह है कि यदि जीव अन्याश्रय से रहित होकर स्वयं प्रभु में आश्रित होकर; चूँकि भजन में प्रतिकूल समस्त वस्तुएँ भजन में अनुकूल वस्तुओं में विकार लाती हैं, अतः ऐसी भगवद्भजन में प्रतिकूल समस्त वस्तुओं के त्यागपूर्वक, प्रभुभजन को ही सर्वतोऽधिक फलरूप एवं रससर्वस्व जानकर भजन करता है तब सर्वात्मकरूप-फलात्मा-सर्वसमर्थ कलादि के नियामक-भगवान पूर्णानंद हरि; चूँकि परमकृपालु हैं अतः, स्वकीयों के यत्किंचित् परिश्रय के सहन न करते हुए ही स्वयं की सेवा के साधन एवं भक्त को अपेक्षित समस्त सामग्रीरूप क्यों नहीं संपादित करेंगे? अन्यथा 'योगक्षेम का वहन करता हूँ (भ.गी. ९/२२)'' यह निर्भयप्रभु ने कहा ही न होता। जो अप्राप्त है उसे प्राप्त करना 'योग' है एवं प्राप्त वस्तु का परिपालन 'क्षेम' है। यह योगक्षेम दोनों का अर्थ है। अथवा, **स्वयमेव** अर्थात् स्वतः ही सभी कुछ करेंगे, प्रार्थना की अपेक्षा के बिना। इससे यह समझना चाहिए कि सेवकों को प्रभु से प्रार्थना नहीं करनी चाहिए। अतएव ''निजेच्छा से करेंगे (नव./२)'' यह नवरत्न में ''प्रार्थना करने से क्या होगा? (वि.धै./२)'' यह विवेकधैर्याश्रय में हमारे श्रीमहाप्रभु ने कहा है। अथवा, यों अर्थ कर लें कि **स्वयमेव** अर्थात् जैसे पूर्व में कहा कि स्वयं ही करेंगे, किसी प्रेरणा या अन्य देवता नहीं। कालादि या अन्य देवताओं के प्रेरक भी हरि ही हैं, यह भाव है। इस अर्थ में 'अयोग' अर्थात् ' न जुड़ना' अर्थात् 'प्रभु के अलावा' अलावा अन्य किसी से न जुड़ना' इस अर्थ को 'एव' शब्द द्योतित कर रहा है। अथवा, यह अर्थ समझ लें कि चूँकि सेवक को प्रार्थना करनी दोषरूप है। अतः उसकी प्रार्थना के बिना ही उसे अभिलषित वस्तु प्राप्त कराते हुए उसकी प्रार्थना की प्रतीक्षा भी नहीं करते हैं। अन्यथा 'जो आपसे मनोरथों की आशा रखता है वह सेवक नहीं बनिया है। जो स्वामी से कामनाओं की पूर्ति चाहता है वह सेवक नहीं एवं जो उसका स्वामी बनने के लिए उसकी कामनाओं की पूर्ति करता है, वह स्वामी नहीं (श्री.भा.७/१०/४,५)'' इत्यादि वाक्यों द्वारा उसके सेवकत्व की हानि हो जाने से प्रभु का स्वामीभाव भी वहाँ दुर्लभ हो जायेगा, यह भाव है। इससे प्रभु की अपने परमभक्तों की परमहितकारिता भलीभाँति सूचित की गई है। अतएव 'योगक्षेम' इत्यादि वाक्य हैं। अथवा, यह अर्थ लें कि 'स्वयं करेंगे ही' इस क्रिया के संग अन्वय करने से 'अत्यंत रूप से हमें प्रभु के अलावा अन्य कहीं नहीं जुड़ना है'' यह अर्थ 'एव' शब्द से द्योतित हो रहा है। यहाँ टीकाकार मूलपंक्ति में आए 'एव' शब्द को दूसरे प्रकार से जोड़ कर अर्थ कर रहे हैं। वे कहते हैं कि इसे मूल में तो 'स्वयं ही करेंगे'; किंतु इसी एवं शब्द को 'स्वयं करिष्यत्येवं' इस प्रकार भी जोड़ा जा सकता है। ऐसा करने पर 'स्वयं करेंगे ही' यो अर्थ बनता है। टीकाकार कह रहे हैं कि ऐसा अर्थ करने पर प्रभु पर अत्यंत दृढ़ता रखना सिद्ध हो रहा है इससे, सेवकों को प्रभु पर विश्वासपूर्वक ही रहना चाहिए अतः इस मार्ग में विश्वास का अभाव ही परमबाधक है। अतएव 'विश्वास' एवं 'अविश्वास' इन दोनों का अनुसंधान ''ब्रह्मास्त्र एवं चातक की भावना करनी चाहिए (वि.धै.आ./१५)'' इस श्लोक से करना चाहिए, जिसमें प्रभु पर अविश्वास नहीं करना चाहिए यह ब्रह्मास्त्र के उदाहरण से समझाया गया है। किस प्रकार मेघनाद ने हनुमान जी को ब्रह्मास्त्र से बांध देने पर भी

ब्रह्मास्त्र जैसे शस्त्र पर भी विश्वास न करके उन्हें एक जंजीर से और बाँध दिया। ऐसे अविश्वास को देखकर हनुमानजी ने वह बंधन भी तोड़ दिया अतः प्रभु पर संपूर्ण विश्वास रखना चाहिए, यह अर्थ है। दूसरा विश्वास का दृष्टांत चातक पक्षी के उदाहरण से समझाया गया है कि, किस प्रकार चातकपक्षी संपूर्ण विश्वास रखकर केवल स्वाति नक्षत्र की ही बूँद का पानी पीता है, किसी भी विकट परिस्थिति में उसका विश्वास खंडित नहीं होता, यह अर्थ है।

ननु सर्वसमर्थोपि प्रभुः सर्वथा साधनसम्पत्तिमन्तरेण तादृक्फलदाने कथं समर्थो भवेत्, भवेद्वा यथाकथञ्चित्सम्पत्तावेव । अत एव 'ये यथा मां प्रपद्यन्त' इतिवाक्ये प्रपत्तिरेव तत्सम्पत्तिरिति चेत्, सत्यम् । परं तत्रेदमवधेयम्-यस्य येन प्रकारेण प्रपत्तिस्तस्मै तत्प्रकारेण प्रयच्छतीति प्रभुः 'तांस्तथैव भजाम्यह'मितिवाक्यत एवमेव । एवञ्च, यत्र मर्यादामार्गोक्तरीत्या प्रपत्तिस्तत्र तद्रीत्यैव फलदानं प्रावाहिकेभ्यः प्रावाहिकरीत्या पुष्टौ तद्रीत्या तथेति विवेकः । इतरथा 'यथा तथे'तिपदे न वदेत् । ये जना मां प्रपद्यन्ते तानेवाहं भजामि हीत्युक्तेपि चारितार्थ्यं स्यात् । उक्तार्थे यथाशब्द इत्यत्र 'प्रकारवचने थालि'तिपाणिन्यनुशासनं जागरूकमेवेति नानुपपत्तिः काचित्, तथाशब्दार्थोप्यनेनैव व्याख्यातः । तथा चात्र भजनोपदेशः पुष्टिपद्धत्यनुसारेणेति तथैव फल दानमिति दिक् । इत्थं च मर्यादायां साधनापेक्षो भगवान्यथासाधनं फलं ददातीति पुष्टौ तन्निरपेक्ष इति निगर्वः । अत एव श्रीमद्भागवते श्रीगोवर्द्धनोद्धरणप्रस्तावे 'गोपायेस्वात्मयोगेन सोऽयं मे व्रत आहित' इति श्रीमद्गोकुलनाथोक्तिः । अन्यथा व्रजजनस्वरूपानन्ददानं च सुतरामशक्यवचनं स्यात् । न च तत्रैव पूर्वोक्त एव प्रस्तावे पूर्वार्द्धेन 'तस्मान्मच्छरण'मित्यादिनोक्तमेव वक्ति चेच्छरणगमनादिकं तत्साधनमप्यस्तीति वाच्यं, 'निस्साधनफलात्माय'मिति प्रभुवाक्यविरोधापत्तेः । यदि ग्रहिलतया तद्वाच्यं तथापि प्रभुणैव तत्सम्पादितं न तु तैरपि किञ्चित्कृतम् । किञ्च, कदाचित्केषाञ्चित्सम्भवेपि तत्रत्योपरिभागस्थशुकमयूरमृगादीनां सुतरां तदसम्भवः । वस्तुतो नास्त्येव तेषामपि तद्बन्धसम्भवोपि, प्रत्युत विपरीतं च तत् । अत एव श्रीमद्गोकुलस्वामिना महता यत्नेनापीन्द्रबलिभागो निवारितः । अत एवा'न्ह्यापृत'मितिवाक्यं च ।

यहाँ एक शंका यह होती है कि, यदि प्रभु सर्वसमर्थ हैं तो वे सर्वथा लौकिक में उपयोगी साधन-संपत्ति, न देकर केवल भक्ति का फलदान करने में ही क्यों समर्थ हैं? क्यों साधन संपत्ति देने में समर्थ नहीं हैं, यदि वे सर्वसमर्थ ही हैं, तो? यदि जिस किसी प्रकार से भक्ति का फलदान करने में समर्थ हैं, तो साधनसंपत्ति देने में भी समर्थ ही होने चाहिए? अतएव ''जो जिस प्रकार मेरे शरणागत होता है (भ.गी. ४/११)'' इस वाक्य में शरणागति को ही भक्त की संपत्ति कहा गया है, यदि ऐसी शंका करें तो, सत्य है, किंतु यहाँ यह समझना चाहिए कि, जिस भक्त की शरणागति जिस प्रकार की है, उसके लिए उसी प्रकार से प्रभु देते हैं। यदि धन की कामना से जीव प्रभु के शरणागत हुआ है तो उसे धन ही प्राप्त होगा, प्रभु नहीं। और यदि प्रभु की कामना से भक्त शरणागत हुआ है, तो धनरूपी प्रभु ही प्राप्त होंगे, तुच्छ लौकिक धन नहीं, यह अर्थ है। अतः जैसी शरणागति है, उसे ''उन्हें उस प्रकार ही भजता हूँ (भ.गी. ४/११)'' इस वाक्य से उसी प्रकार से प्रभु फलदान देते हैं। और, जहाँ मर्यादामार्ग से शरणागति है, उसे उस रीति से ही फलदान होता है, जो प्रवाहमार्ग में हैं उसे उस रीति से एवं पुष्टिमार्ग में पुष्टिपद्धति से फलदान होता है, यह विवेक समझना चाहिए। अन्यथा उपर कहे भ.गी. के श्लोक में 'जिस प्रकार', 'उस प्रकार' यह न कहा होता। अन्यथा इसी श्लोक को ''जो मेरे शरणागत होते हैं, उनको ही मैं भजता हूँ'' इस प्रकार कह देने से भी बात चरितार्थ हो जाती। इस श्लोक के कहे गये अर्थ में 'यथा' शब्द यहाँ 'प्रकारवचने थाल्' इस पाणिनी के व्याकरणसूत्र से बना है। टीकाकार 'यथा' शब्द को व्याकरणसूत्र द्वारा समझाना चाह रहे हैं। वे कहते हैं कि उपर कहे पाणिनीसूत्र के अनुसार 'यत्' शब्द 'थाल्' प्रत्यय लगा है, जो उस स्थान पर प्रयुक्त होता है जहाँ प्रकार को कहना हो अथवा जहाँ विविधता बतानी हो। 'यत्' शब्द में 'थाल्' प्रत्यय जुड़कर 'यथा' शब्द बना है एवं यहाँ इस भगवद्-गीता के श्लोक में वह शरणागति के प्रकारों को द्योतित कर रहा है, यह अर्थ है। अतः यह अर्थ यहाँ पूर्ण रूप से जागृत है एवं इसमें कोई भी आपत्ति नहीं है। 'तथा' शब्द की भी इसी प्रकार से व्याख्या की गई है। और, यहाँ दिया गया भजन का उपदेश पुष्टिपद्धति के अनुसार ही है। अतः उसी प्रकार से फलदान भी है, यह दिशा अब स्पष्ट हो गई। एवं, इस प्रकार, मर्यादामार्ग में भगवान साधनों की अपेक्षा करके जैसा साधन किया गया है, वैसा फल देते हैं एवं पुष्टिमार्ग में वह साधनों की अपेक्षा नहीं करते, यह गूढ़ार्थ है। अतएव श्रीमद्-भागवत में गोवर्धनधारण के प्रसंग में श्रीगोकुलनाथप्रभु ने 'मैं अपनी योगमाया से इसकी रक्षा करूंगा, यह मेरा व्रत है (श्री.भा. १०/२५/१८)'' यह कहा है। अन्यथा व्रजजनों को स्वरूपानंद का दान और भी अशक्य कथन हो जाता क्योंकि व्रजजन तो निःसाधन थे। किंतु यहीं पूर्व में कहे इसी प्रसंग में यदि उपर कही निःसाधनता की ही बात कही जा रही है तो फिर यहाँ इसी श्लोक के पूर्व में 'अतः मेरे शरणागत है (श्री.भा. १०/२५/१८)'' इस वाक्य से उन व्रजभक्तों का साधन तो शरणागति थी ही। फिर आप निःसाधनता का उपदेश कैसे कर रहे हैं? ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि तब श्री प्रभुचरण के ''निःसाधनों के फलात्माप्रभु इस गोकुल में प्रकटे हैं, (टि.१०/५/२८)'' इस वाक्य में विरोध की आपत्ति खड़ी हो जायेगी। और आग्रहपूर्वक यदि शरणागति को साधन ही कहना चाहते हो तो समझो कि वह शरणागति भी स्वयं प्रभु ने ही उन्हें संपादित की थी, न कि उन व्रजभक्तों द्वारा कुछ किया गया था। और, चलो यदि मान भी लें कि कुछ व्रजभक्तों ने

प्रभु की शरणागति की भी थी। किंतु वहाँ पर्वत के उपर रहनेवाले शुक, मयूर, मृग आदि को तो वह शरणागति करनी और भी कठिन है किंतु प्रभु ने उनकी भी रक्षा की ही है। वास्तव में तो उन व्रजभक्तों में साधन करने की गंध भी नहीं है प्रत्युत विपरीतता ही है क्योंकि वे प्रभु की शरणागति न कर के इंद्र की पूजा करते थे। अतएव श्रीमद्-गोकुलस्वामी भगवान ने अधिक यत्नपूर्वक इंद्र की पूजा निरस्त कर दी। अतएव दिन में व्यस्त, रात्रि में अतिश्रम से निद्रा (श्री.भा. २/७/३१) इस प्रकार के वाक्य हैं। जिनसे सिद्ध होता है कि व्रजभक्त दिनभर काम करते थे एवं रात्रि में थककर सो जाते थे। उन्होनें प्रभुप्राप्ति के कोई भी साधन नहीं किए थे।

न च जन्मान्तरीयं तदस्तीति चेत्, न । तथाकल्पने मानाभावात् । न चैतत्फलान्यथानुपपत्तिरेव तदिति चेन्न । उक्तोत्सुच्छेदापत्तिः । ननु क्वचित्तादृगुक्तिरपि स्यादिति चेत्, न । 'अस्ति चेदुपलभ्येते'तिन्यायो व्याकुप्येत्, प्रत्युत भगवतैव सर्वं सम्पादितमित्युक्तिर्लभ्यतेपि । अत एव 'प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरि'रितिवाक्यमिति चेत्, समः समाधिः, 'अहो अमीषां किमकारि शोभन'मितिवाक्यात् । अत्र ब्रूमः । यद्यप्येतद्वचनमपि कोटिद्वयावबोधमवगाहते तथाप्युत्तरदले यथोपोद्बलक'मन्ह्यापृतं', 'निःसाधनफलात्माय'मितिवाक्यं न तथा पूर्वदल इत्यनेनापि भगवत्कृतिरेव निरणायि, न व्रजवासिनामतो मर्यादायां तत्साधनैरेव फलं यतस्तद्रक्षकोपि प्रभुरेव । पुष्टौ तद्विनापि स्वबलेनैव सर्वं कर्तुं समर्थ इति कृतं वाचां विलासैः । इदानीमुक्तार्थमेवोद्घाटयन्त्यस्मत्प्रभुचरणाः प्रभुरिति । प्रभुः सर्वनियामकः । 'एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान्स्वय'मितिवाक्यतः । अत एव समर्थ इति हेतुगर्भं विशेषणम् । सर्वेभ्यः कालादिभ्योपि समर्थः । कालसाध्यपदार्थस्यापि स्वयमेव साधकः । यद्वा, सर्वेष्वाश्रमेषु देशेषु वाहोस्विद्वर्णेषु तथा कालत्रितयेषु वर्णाश्रमादिषु तथा । देशादिषट्साधनानपेक्षः । यद्वा, सर्वस्मिनन्साधनविषये तथा । तत्तत्साधननिरपेक्षः । यद्वा, सर्वैः कालादिभिः कृत्वा समर्थः सर्वकरणक्षमः । कालादयोपि तदधीना एवेति तत्साध्यपदार्थस्यापि प्रभोरिच्छामात्रेण त एव साधका न तु विघ्नकर्तारः । अथवा सर्वेषु दैवजीवेषु साधनसम्पत्तिं साधयितुं तथा । स्वस्मिन्नेव ज्ञानादेः सिद्धत्वात् । यद्वा, असाधनमपि साधनं कर्तुं समर्थः, अद्भुतकर्मत्वात् । अत एव तत्त्वार्थदीपे 'असाधनमपि साधनं करोती'त्यस्मत्प्रभुचरणोक्तिः । ह्यिशब्दोपि समर्थमनुमोदते ।

और कदाचित् यह प्रश्न भी हो सकता है कि, उन्होनें भले ही इस जन्म में कोई साधन न करे हों, किंतु पिछले जन्म में करे हों? नहीं, ऐसा सोचना उचित नहीं है। क्योंकि ऐसी कल्पना करने में कोई प्रमाण नहीं है। एवं न ही यह फल अन्यथा अनुपपत्ति द्वारा ही प्रमाणित है अन्यथा अनुपपत्ति उसे कहते हैं जहाँ किसी भी बात का प्रमाण न ही एवं वह कही गई बात स्वयं अपने आप में ही प्रमाण हो क्योंकि यदि अन्यथा-अनुपपत्ति को मान लें तब फिर उपर कहे श्रीमद्भागवत के कथन में; जहाँ व्रजभक्तों को निःसाधन बताया गया है, विरोधाभास की आपत्ति आ खड़ी होगी। यहाँ यदि ऐसी शंका करें कि, कदाचित कहीं ऐसी उक्ति हो भी कि जहाँ ऐसे वाक्य मिलते हों कि व्रजभक्तों ने कोई साधन किये भी थे तो? नहीं, यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि तब "यदि है तो फिर उपलब्ध है" यह न्यायवाक्य कुपित हो जायेगा। क्योंकि इस न्याय के अनुसार यदि कोई भी वस्तु है तो वह तभी है, जब वह उपलब्ध है। जो उपलब्ध ही नहीं वह कैसे हो सकती है? इसी प्रकार यदि व्रजभक्तों ने साधन किए होते तो ऐसे वाक्य भी उपलब्ध होते, यह अर्थ है। प्रत्युत भगवान ने ही सर्ववस्तु संपादित की है, यह उक्ति अवश्य प्राप्त होती है। इसलिए यदि "इन पर स्वयं हरि ही प्रसन्न हो गये हैं। (श्री.भा. ५/१९/२१)" इत्यादि वाक्यों से यह शंका करें कि अवश्य ही इन व्रजभक्तों ने कोई समाधि लगाई होगी, इस कारण ही प्रभु प्रसन्न हुए हैं तो इस शंका का खंडन इसी वाक्य के पूर्व में आए "इन्होंने ऐसा कौनसा पुण्यकर्म किया है? (श्री.भा. ५/१९/२१)" इस वाक्य से हो जाता हैं कि इन व्रजभक्तों ने ऐसा कोई भी पुण्य कार्य नहीं किया था। यहाँ और भी कुछ कह रहे हैं। यद्यपि ये वचन भी दो प्रकार की कोटि का ज्ञान करा रहे हैं। प्रथम कोटि, अहो अमीषां.... इन वाक्यों से साधन-कोटि है। एवं दूसरी कोटि, प्रसन्न एषां... इन वाक्यों से निःसाधन-कोटि है। तथापि बाद की जो निःसाधन-कोटि है, उसके सहायक "दिन में व्यस्त (श्री.भा. २/७/३१)", 'निःसाधनों के फलात्मा (टि. १०/५/२८)" इत्यादि वाक्य हैं। किंतु पहले कही साधन कोटि को प्रमाणित करने के लिए ऐसे सहायक वाक्य नहीं हैं। अतः इससे भी यहाँ उनके उद्धार में भगवत्कृति ही निर्णीत होती है न कि व्रजवासियों की। अतः मर्यादामार्ग में उन साधनों द्वारा ही फल प्राप्त होता है क्योंकि उसके रक्षक भी प्रभु ही हैं। किंतु पुष्टि में उन साधनों के बिना भी प्रभु स्वबल द्वारा ही सब कुछ करने में समर्थ हैं। अतः अब पर्याप्त वाक्-युद्ध हो गया, अब पूर्वपक्षी को वाणी को विराम देना चाहिए। अब उसी अर्थ को हमारे श्रीमहाप्रभु **प्रभुः** इन शब्दों से स्पष्ट कर रहे हैं। प्रभु सभी के नियामक हैं, क्योंकि "अन्य सभी तो अंश-कलाएँ है, भगवान तो श्रीकृष्ण ही हैं (श्री.भा. १/३/२८) यह वाक्य हैं। अतएव **समर्थ** इस विशेषण के गर्भ में कोई हेतु है एवं वह यह कि, प्रभु सभी से, कालादि की अपेक्षा समर्थ हैं। काल से साध्य पदार्थों के भी प्रभु स्वयं ही साधक हैं। अथवा, सभी आश्रमों में या सभी स्थानों में या सभी वर्णों में तथा त्रिकाल अर्थात् भूत-भविष्य-वर्तमान में तथा वर्णाश्रमों में वह सभी कुछ करने में समर्थ हैं। धर्म के आधार भूत देश-काल-द्रव्य-कर्तृ-मंत्र एवं कर्म ये देशादि छह साधनों की भी उन्हें अपेक्षा नहीं है। अथवा, सभी साधनों के विषयों में वह सर्वसमर्थ हैं। उन-उन साधनों की उन्हें अपेक्षा नहीं है। अथवो, सभी कालादि से लेकर सभी कुछ करने में समर्थ हैं। चूँकि कालादि भी प्रभु के अधीन ही हैं

अतः काल से साध्य पदार्थ भी प्रभु इच्छामात्र से वे ही साधक हो जायेंगे न कि विघ्नकर्ता। अथवा सभी दैवीजीवों में साधनसंपत्ति को साधने में प्रभु सर्वसमर्थ हैं क्योंकि ज्ञानादि भी उनमें ही सिद्धि है। अथवा, असाधन को भी साधन करने में समर्थ हैं, क्योंकि वे अद्भुतकर्म करने वाले हैं। अतएव तत्वार्थदीपनिबंध में ''असाधारण को भी साधन करते हैं'' यह हमारे श्रीमहाप्रभु ने कहा है। मूल कारिका के अंतर्गत 'हि' शब्द इसी अर्थ का समर्थन कर रहा हैं।

तथा हि यत्र मर्यादामार्गीयसाधनाभाववत्पापात्यन्तासक्ताजामिलादिभ्यः स्वांशकलाद्यवतारः परम्परासम्बद्धेपि नामवर्णाज्ञानेन कथनेनापि परमस्नेहभरतः केवलस्वपुत्रनाममात्रजल्पनेन स्वसम्बन्धगन्धसम्भावनाऽभावेपि तन्नामवर्णमाहात्म्यावबोधार्थं तादृक्फलदानं तत्र साक्षात्फलात्मकश्रीपुरुषोत्तमस्यैव पुष्टिमार्गीयस्वमुखारविन्दरूपाचार्योपदेशपूर्वकतदुक्तप्रकारेण भजने स्वयमेव किं किं न विधास्यतीति निखिलमनिर्वचनीयम । य एतादृक् प्रभुः समर्थः, तेन प्रभुणा कृत्वा तेन कारणेन वा हेतुना वा भक्तो भगवति स्निग्धः निश्चिन्ततां निराकुलतां व्रजेत्प्राप्नुयात् । अत्रायं भावः । पूर्वं श्रीमदाचार्योपदेशमात्रेण तद्विश्वासोद्रेकेण भजन् पश्चात्तस्मिंस्तदुद्रेकेण स्निग्धः सन् तथा स्यादित्यर्थः । इदं भजनमेव सर्वस्वमिति ज्ञात्वा यदि भजनमेव कुर्वन्प्रभुं क्षणमात्रमपि न त्यजेत्तदा स तथात्वं प्राप्नुयादिति भावः । तथा चैतन्मार्गीयो द्वितीयपुरुषार्थोपि सोपपत्तिको निरूपितः । तथैवाभिहितं भक्तिरससारपरिशीलनशीलै'रर्थो हरिरेव ही'ति ॥ २ ॥

वह इस प्रकार कि जहाँ मर्यादामार्गीय साधनों के अभावपूर्वक पाप में अति-आसक्त अजामिल आदि को भी स्वयं के अंशकलादि अवतार द्वारा उसके भगवद्-नाम, लेने की पद्धति-परंपरा से असंबंधित होने पर भी एवं भगवान के नामवर्ण का अज्ञान होने के कारण उसने केवल परमस्नेहपूर्वक अपने पुत्र का नाम मात्र का उच्चारण किया जिसमें भगवद्-संबंध होने की संभावना की गंध भी नहीं थी ऐसी परिस्थिति में भगवान ने अपने नाम एवं वर्ण का माहात्म्य-बोध कराने के लिए वैसा फलदान किया, वहाँ पुष्टिमार्गीयप्रभु के मुखारविंदस्वरूप श्री आचार्यचरणों के उपदेशपूर्वक एवं उनके द्वारा कहे गये प्रकार से साक्षात् फलात्मक श्रीपुरुषोत्तम का भजन करने में स्वयं प्रभु ही क्या-क्या नहीं करेंगे? यह समस्त अनिर्वचनीय कथा है। जो प्रभु ऐसे समर्थ हैं, उन्हें प्रभु मान कर **तेन** अर्थात् इस कारण से या इस हेतु से भक्तों को भगवान में स्नेह एवं **निश्चिंततां** अर्थात् निराकुलता जिसमें व्याकुलता न हो, वह प्राप्त करनी चाहिए। यहाँ इसका यह भाव है कि, पूर्व में केवल श्रीमदाचार्य के उपदेशमात्र से, एवं उनके प्रति विश्वास के उद्रेग से भजन करते हुए तत्पश्चात् उस उद्रेग से भावाविष्ट होते हुए निश्चिंत हो जाना चाहिए, यह अर्थ है। इस भजन को ही सर्वस्व जानकर यदि भजन ही करते हुए प्रभु को यदि क्षणमात्र के लिए भी त्याग न करे, तब वह निश्चिंतता प्राप्त कर लेता है यह भाव है। एवं इस प्रकार, पुष्टिमार्गीय द्वितीय पुरुषार्थ भी प्रमाणसहित निरूपित किया। वही भक्तिरस के सार का चिंतन करनेवाले श्रीमहाप्रभुजी ने 'अर्थ 'हरि' ही है' यह कहा है ॥ २ ॥

एवं मार्यादिकौ तौ निराकृतौ तथा कृतेऽप्यर्थे सात्त्विकादिभेदेन त्रैविध्यमित्यतः कामस्यापि तत्र तदुत्कर्षत्वमाशङ्क्य तदपि प्रभुस्वरूपापेक्षया सुतरामेवाप्रयोजकमिति तृतीयमपि तं तमेव निरूपयन्तस्तत्परिहर्तुमुपक्रमन्ते यदीति ।

यदि श्रीगोकुलाधीशो धृतः सर्वात्मना हृदि ।
ततः *किमपरैर्ब्रूहि लौकिकैर्वैदिकैरपि ॥ ३ ॥

यदि चेद्गोकुलाधीशो यशोदोत्सङ्गलालितोऽनन्यगोकुलस्वामी । श्रीपदोक्त्या तादृगन्तरङ्गभक्तसहितः । यद्वा, 'श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र ही'तिवाक्यतः श्रीयुक्तं यद्गोकुलं, तस्य तथा । पूर्वोक्तवाक्यतः सर्वोत्कृष्टशोभायुक्तं यत्तत्तस्य तथा । तादृशोपि सर्वात्मनोक्तं-भावेन धृतः भवता त्वया वेति शेषः धृत इतिपदात्कायवाङ्मानसैस्तदेकपरता ध्वनिता । विशेषतश्चेतस्तत्प्रवणता यतः स प्रभुस्तत्सम्बन्ध्येव । अतः फलप्रकरणेऽस्मत्प्रभुचरणगैर्गीतं 'सोऽन्तःकरणसम्बन्धी तिरोधत्त' इति । आश्रयान्तरं परित्यज्य केवलतदेकनिष्ठो जात इति यावत् । तदा ततः पूर्वोक्तफलात्मकप्रभोः सकाशादपरैस्तुच्छैर्लौकिकैर्वैदिकैरपि किं ? न किमपीत्यर्थः ।

इस प्रकार, मर्यादामार्गीय धर्म-अर्थ का निराकरण करने पर भी उनमें सात्विक-राजस-तामस के भेद से त्रिविधता तो है ही अतः 'काम' पुरुषार्थ का भी मर्यादामार्ग में तो उत्कर्ष है ही, यह आशंका कर, काम भी प्रभु की अपेक्षा तो अप्रयोजक है। इस प्रकार उस तृतीयपुरुषार्थ काम को भी भगवान के रूपतया ही निरूपण करते हुए मर्यादामार्गीय काम का परिहरण करने के 'यदि' इन शब्दों से उपक्रमित कर रहे हैं।

यदि **गोकुलाधीश** अर्थात् यशोदा की गोद में लालित, गोकुल के अनन्य स्वामी। 'श्री' पद के संग गोकुलाधीश को कहने से अंतरंगभक्त गोपीजनों के सहित गोकुलाधीश हैं, यह अर्थ जानना चाहिए। अथवा, ''लक्ष्मी जी यहाँ शाश्वत्रूप से यहाँ निवास करने लगी हैं (श्री.भा. १०/३१/१)'' इन वाक्यों से 'श्री' से अर्थात् लक्ष्मी जी से युक्त जो गोकुल है, उसके अधीश, गोकुलाधीश हैं। पूर्व

* 'अपरं'मित्यपि पाठष्टीकाकारैर्विवृतः ।

में कहे श्रीमद्-भागवत के वाक्य के अनुसार सर्वोत्कृष्ट-शोभायुक्त जो गोकुल है उसके वे अधीश हैं। कुल मिलाकर अर्थ यह हुआ कि, वैसे कहे सर्वात्मभाव से यदि आपने श्रीगोकुलाधीश को **धृतः** अर्थात् धारण किया है तो। **धृतः** इस पद से काया-वाणी एवं मन की एकपरता ध्वनित हो रही है। क्योंकि यदि उसने काया-वाणी-मन तीनों प्रकार से धारण नहीं किया है तो धृतः शब्द का अर्थ पूर्णरूप से सिद्ध नहीं हो पायेगा। क्योंकि हमारे मार्ग में तो विशेषरूप से चित्त की भगवान में प्रवणता अपेक्षित है। क्योंकि वे हमारे प्रभु हैं एवं वह प्रवणता भगवद-संबंधी है। अतः फलप्रकरण में हमारे श्रीमहाप्रभुजी ने ''हमारे अंतःकरणसंबंधी प्रभु तिरोहित हो गये'' यह गाया है। अन्य आश्रयों को छोड़कर केवल भगवान में एकनिष्ठ हो गया है, यह धृतः सर्वात्मना हृदि का अर्थ है। तब **ततः** अर्थात् पूर्व में कहे फलात्मकप्रभु के अतिरिक्त **अपरैः** अर्थात् दूसरे तुच्छ लौकिकवैदिक कर्मों द्वारा भी क्या होना है? कुछ भी नहीं।

अयमर्थः । लौकिकैर्लोके परमोत्कर्षप्रापकैस्तामसराजससात्त्विकैः । बहुवचनं त्रिविधत्वसूचनाय । वैदिकैस्त्रिविधगुणरूपैर्ब्रह्मलोक-योगसिद्धिमोक्षैः । बहुवचनं पूर्वोक्ताभिप्रायेण । चतुर्विधमोक्षज्ञानादिसूचनायापिशब्दः । उभयविधैस्तैर्ज्ञानादिभिश्च कृत्वा किं ? न किमपीत्यर्थः । अपरमिति पाठे उक्तैस्तैः कृत्वाऽपरमुत्कृष्टं वस्तु किमप्यस्ति । न किमपीत्यर्थः । यद्वा, अपरैर्देवतान्तरैः किं ? सर्वेषां तद्विभूतिरूपत्वात् । अत एवोक्तमस्मत्प्रभुचरणैस्तत्वदीपे 'कृष्णशब्देन परं वस्तूच्यते' । 'कृष्णात्परं नास्ति दैव'मित्यन्तःकरणप्रबोधे च । अत्रायमभिसन्धिः । रसातलादिषु भूम्यपेक्षयाप्यानन्दाधिक्यं, तदपि वामनावतारेणैवोद्धृतमतः प्रभोरनपायिन्याः श्रियः सकाशादपि तदप्रयोजकम् । एवं सर्वभूमीश्वरत्वं लोके यशस्करं, तच्च यज्ञदानादिसापेक्षमत औपाधिकं सावधि च । न च राज्यमन्ते परलोकोपकारि, 'राज्यान्ते नरकं ध्रुव'मितिवाक्यात् । अतो भगवदनवद्ययशसस्सकाशात्तत्तथा । एवमेवेन्द्राधिपत्यमपि परिणामापायि । भगवदखण्डितैश्व-र्यात्तत्तथा । एवं लौकिकत्रिविधमपि निराकृत्य वैदिकमपि निराकुर्वन्ति । अपरिपक्वयोगिनो हि स्वयोगबलेनाभिलषितपदार्थानाविर्भाव्य तदनुभवं कुर्वन्तस्तस्मादपि भ्रष्टाः सन्तो दुःखिता एव पुनर्जन्मार्हन्तीति भगवज्ज्ञानापेक्षया तदज्ञानमपि तथा । भगवज्ज्ञानस्य नित्य-त्वात् । ब्रह्मणो रजोवतारत्वात्तल्लोकोऽपि राजसः, तत्र हि 'ब्रह्मणा सह मुच्यन्त' इतिवाक्यात्तत्साहित्येन पारतन्त्र्यतो भोगफलयोः सिद्धिरिति स्वपराक्रमातिक्रमः । भगवद्दीयापेक्षातस्तौ तथा । 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति । नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाये'त्यादिश्रुत्या ज्ञानतो मोक्षस्तच्च 'सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानमि'तिवाक्यतस्तज्जन्यं तदपि सात्त्विकमेव भवितुमर्हतीति तत्साध्यो मोक्षोपि तथा । सोऽपि गणितानन्दात्मकोऽतः पूर्णानन्दप्रभवपेक्षया सोऽत्यन्तं स्वल्पतर इति तथेति वैदिकमपि तत्तथाकृतम् । किञ्च, मार्यादिकवैराग्यमपि प्रभोर्भक्तातिरिक्ते रागाभावाल्लोकोत्तरवैराग्यतः पूर्ववदिति भगवद्धर्मरूपतत्वङ्गुणत । षड्विधास्तेऽकिञ्चित्करा यत्र तत्र किं वाच्यमन्तरङ्ग-र्मिरूपतद्गुणतस्तथात्वमिति कैमुतिकन्यायोपि ध्वनितः ।

यहाँ इसका अर्थ यह है कि **लौकिकैः** अर्थात् लोक में परम-उत्कर्ष की प्राप्ति करानेवाले तामस-राजस-सात्विक धर्मों से भी क्या प्राप्त हो सकता है? यहाँ इस यदि.... वैदिकैरपि कारिका में 'लौकिक' शब्द में बहुवचन का प्रयोग हुआ है, जो इनके त्रिविध प्रकारों की सूचना देने के लिए है। अर्थात् ये लौकिक कार्य भी सात्विक-राजस-तामस ऐसे तीन प्रकार के हैं। **वैदिकैः** अर्थात् ब्रह्मलोकप्राप्ति, योगसिद्धि एवं मोक्ष यों त्रिविधगुणवाले वैदिक कार्यों से। यही इसी कारिका में प्रयुक्त हुआ 'अपि' शब्द चार प्रकार के मोक्ष एवं ज्ञान आदि की सूचना देने के लिए है। लौकिकवैदिक दोनों प्रकार के कर्म एवं ज्ञानादि भी करके क्या होगा? कुछ भी नहीं, यह अर्थ है। अथवा, **अपरैः** अर्थात् अन्य देवताओं से भी उस जीव को भला अब क्या प्रयोजन रह जाता है, जिसने श्रीगोकुलाधीश को हृदय में धारण कर लिया है। और यदि इस कारिका में पाठभेद मान **अपरं** यह पद मान लें तो, यह अर्थ बनेगा कि कहे गये उन लौकिकवैदिक कार्यों से भी **अपरं** अर्थात् दूसरी उत्कृष्ट वस्तु क्या है? कुछ भी नहीं है, यह अर्थ है। अथवा, **अपरैः** पाठ मानें तो अर्थ यों बनेगा कि अपरैः अर्थात् दूसरे देवताओं से अब, श्रीगोकुलाधीश को हृदय में धारण करने के बाद, भक्त को क्या प्रयोजन रह जाता है? क्योंकि अन्य सभी देवता तो उनकी विभूतिरूप हैं। इसी कारण हमारे श्रीमहाप्रभुजी ने तत्वदीपनिबंध में 'कृष्ण' शब्द से परम वस्तु कही जा रही है'' एवं अंतःकरणप्रबोध में 'कृष्ण के अलावा दूसरा कोई देव नहीं है (अंत./१)'' यह कहा है। यहाँ यह कहने का अभिप्राय यह है कि, रसातल आदि लोक में भूलोक की अपेक्षा आनंद अधिक है, किंतु वह रसातल भी प्रभु ने वामनावतार में नाप लिया था। अतः प्रभु की शाश्वत् 'श्री' के सामने वह रसातल का आनंद एवं सुख भी अप्रयोजक है। इसी प्रकार, संपूर्ण भूमि का ऐश्वर्य लोक में यशकारी होता है एवं वह सार्वभौम राज्य पाने के लिए यज्ञदानादि पुण्य कर्मों की अपेक्षा रहती है। अतः वह उपाधिसहित एवं एक निश्चित अवधि तक होता है। एवं वह राज्य अंत में लोकोपकारि भी नहीं होता है, क्योंकि ''राज्य के अंत में नर्क तो निश्चित है'' इस वाक्य के अनुसार भोगविलासी होने के कारण उसे राज्य के अंत में नर्क ही प्राप्त होता है। अतः भगवान के निर्दुष्ट यश के सामने राजा का यश भी अप्रयोजक है। इसी प्रकार इंद्र का आधिपत्य भी अंततोगत्वा नश्वर है। क्योंकि उसका राज्य भी हमेशा उसके पास रहता हो, ऐसा नहीं है। पुराणों में कहा है कि इंद्र का राज्य पाने की योग्यता सौ अश्वमेध यज्ञ की है। जो यह कर ले वह इंद्र बन सकता है।

पुराणों में कथा आती है कि इसी प्रकार राजा नहुष ने सौ अश्वमेध यज्ञ करके इंद्र का राज्य पा लिया था। अतः इंद्र का राज्य भी शाश्वत् नहीं है, यह सिद्ध हुआ। अतः भगवान के अखंड ऐश्वर्य के समक्ष वह ऐश्वर्य अप्रयोजक है। इस प्रकार, श्री, यश एवं ऐश्वर्य यों त्रिविध लौकिक गुणों का, वे भगवान के अलौकिक गुणों के समक्ष तुच्छ हैं, इस प्रकार निराकरण करके वैदिकगुणों का भी निराकरण अब आगे किया जा रहा है। अपरिपक्व योगी अपने योगबल द्वारा अभिलाषित पदार्थों को उत्पन्न करके उन भोगपदार्थों का अनुभव करते हुए उस योग से भी भ्रष्ट होकर दुःखी ही होते हैं एवं पुनर्जन्म को प्राप्त करते हैं। अतः भगवद्-ज्ञान के अपेक्षा वह अज्ञान भी अप्रयोजक ही है क्योंकि भगवद्-ज्ञान तो नित्य है। ब्रह्मा चूँकि रजोगुण के अवतार हैं अतः ब्रह्मलोक भी राजस है, वहाँ ''ब्रह्मा के संग मुक्त होते हैं'' इस वाक्य के अनमुसार यदि ब्रह्मलोक की प्राप्ति भी हो जाय तब भी जीव ब्रह्मा के संग हीं मुक्त होता है एवं उसके भोग एवं फल की सिद्धि भी उनके संग ही है। अतः परतंत्रता सिद्ध हुई एवं स्वयं के पराक्रमों का अर्थात् पुण्यकर्मों का अतिक्रमण हो जाता है। अतः प्रभु के वीर्य अर्थात् पराक्रम के समक्ष वे ब्रह्मलोक के भोग एवं फल अप्रयोजक हैं। ''तमेव.... इस श्रुति के द्वारा ज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है एवं ''सत्वगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है (भ.गी. १४/१७)'' इस भगवद्-गीता के वाक्य द्वारा ज्ञान की उत्पत्ति सत्वगुण से होती है। अतः वह ज्ञान भी सात्विक को ही प्राप्त होता है अतः इस ज्ञान से प्राप्त हुआ मोक्ष भी अप्रयोजक ही है, क्योंकि वह राजस-तामस को प्राप्त नहीं होता। वह मोक्ष भी गणितानंदात्मक ही है अतः पूर्णानंदप्रभु की अपेक्षा वह गणितानंद तो अल्पतर ही है। अतः वह भी अप्रयोजक है। इसलिए वैदिककर्मों का भी निराकरण कर दिया। और, मर्यादामार्गीय वैराग्य भी पूर्ववत् पुष्टिमार्गीय वैराग्य की अपेक्षा अप्रयोजक है। क्योंकि पुष्टिमार्ग में जिस प्रकार प्राणिमात्र में वैराग्य न होकर केवल प्रभु के भक्तों के अतिरिक्त बहिर्मुखों में वैराग्य है, ऐसा वैराग्य मर्यादामार्ग में नहीं है अतः पुष्टिमार्गीय वैराग्य लोक में उत्तम है एवं भगवान के धर्मरूप जो ऐश्वर्यादि छह गुण हैं, उनकी अपेक्षा लौकिकवैदिक छह गुण अप्रयोजक हैं। ये छह प्रकार के लौकिकवैदिक धर्म भी जहाँ कुछ भी नहीं कर सकते, वहाँ इनका अंतरंग मर्यादामार्गीय धर्मि अक्षरब्रह्म यदि इस पुष्टिपुरुषोत्तम के समक्ष अप्रयोजक हो जाय, तो इसमें क्या कहना? यह कैमुतिकन्याय भी ध्वनित होता है।

किञ्च, 'अस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ती'तिश्रुत्युक्तेर्भगवदानन्दलेशस्तदतिरिक्तसकलार्थेषु निर्णीतः । तर्हि विषयानन्दनिमित्तमात्रपुत्रार्थादिरूपं तदानन्दाभासरूपं वस्तुतो दुःखात्मकमेव तत्तथे'त्यधिकं तत्रानुप्रविष्टं न तु तद्धानि'रितिन्यायमपि सूचयन्तः स्वान्तरङ्गस्वाश्रितमभिमुखं विधाय प्राबोचन्-ब्रूहि त्वमेव वद । अत्र ब्रूहिपदतोऽस्मदाचार्यवर्यकृपाप्राचुर्यतस्तत्कालावच्छेदेन तस्य स्वरूपानन्दानुभव इत्यध्यवसीयते । इतरथा ब्रूहीतिप्रश्नः कथमपि न सङ्गटेतैवेति पूर्वमेवाबोचाम । न च तादृग्भाग्यशालिनस्तस्य तादृगाचार्यचरणकृपाकटाक्षपक्षपाततस्तादृक्तदनुभवो दुर्घटस्तस्य तादृङ्मुखारविन्दरूपत्वात्तद्रसपूर्णत्वाच्च । अत एवास्मत्प्रभुचरणै'स्तत्सार-भूतरासस्त्रीभावपूरितविग्रह' इति सर्वोत्तमे तादृगस्मत्स्वामिनाम् गीतम् । एवञ्च भक्तोपदेशपक्ष एव साधीयान्नान्तःकरणोपदेशपक्षः[1] । फलप्रकरणे 'ब्रूहि किं करवाणि व' इतिवत् । अन्यथा स्वमनोबबोधे यथा 'किं स्यादिति विचारये'ति तत्प्रत्यवदंस्तथात्रापि तत्पदमेव वदेयुः, यतो विचारो ह्यन्तःकरणधर्म एव, परं तादृग्गवेषणीय एवेति यदीतिपदं भाषितमस्मत्सौभाग्यसुभगभूषणैः श्रीमदाचार्यचरणैरिति दिक् ।

और, ''इस आनंद की ही एक मात्रा से सभी प्राणी जीवित हैं'' इस श्रुतिद्वारा वह आनंदांश प्रभु से अतिरिक्त सभी पदार्थों में लेशमात्र है एवं प्रभु में संपूर्ण रूप से है। तो, विषयानंद के निमित्तमात्र जो पुत्र-धन आदि रूप हैं वे उस आनंद का आभासमात्र ही हैं एवं वस्तुतः दुःखात्मक ही हैं। अतः वे पूर्णानंद के आगे अप्रयोजक ही हैं। इस कारण 'अधिकं....' इस न्याय से हमने जो कहा वह उससे यह पूर्णानंद कुछ अधिक ही है, इस न्याय को भी सूचित करते हुए अपने अंतरंग, अपने आश्रितों को सन्मुख करके श्रीमहाप्रभु कह रहे हैं - तू ही कह। यहाँ 'ब्रूहि' पद से यह समझना चाहिए कि हमारे आचार्यवर्य के कृपाप्राचुर्य से जिस समय वे इस कथन का उपदेश कर रहे हैं उसी समय सन्मुख बैठे जीव को स्वरूपानंद का अनुभव हो रहा है, यह ज्ञापित हो रहा है। अन्यथा **ब्रूहि** अर्थात् कहो? यह प्रश्न किसी भी प्रकार से संघटित ही नहीं होगा अतः पहले ही कह रहे हैं। एवं, उस प्रकार के भाग्यशाली जीव को ऐसे आचार्यचरण के कृपाकटाक्ष के पक्षपात से ऐसा अनुभव होना कठिन नहीं है क्योंकि श्रीमहाप्रभु श्रीप्रभु के मुखारविंद के स्वरूप हैं एवं उनके रस से परिपूर्ण हैं। अतएव हमारे प्रभुचरणों ने हमारे स्वामी श्रीमहाप्रभु का सर्वोत्तम में ''भगवत्-लीला की सारभूत गोपिकाओं के भाव से पूरित स्वरूप (१६)'' यह नाम गाया है। अतः श्रीमहाप्रभु जी किसी भक्त को ही उपदेश कर रहे हैं यह पक्ष ही मानना चाहिए। स्वयं के अंतःकरण को उपदेश करनेवाला पक्ष गौण मानना चाहिए। फलप्रकरण में जिस प्रकार गोपियों से ''कहो मैं क्या करूँ? (श्री.भा. १०/२९/१८)'' यह कह रहे हैं, उस प्रकार यहाँ भी 'ब्रूहि' पद से श्रीमहाप्रभु किसी भक्त को संबोधित कर कह रहे हैं, यह समझना चाहिए। अन्यथा स्वयं के मन को अवबोध करने में जिस प्रकार श्रीमहाप्रभुने अंतकरण प्रबोध ग्रंथ में 'क्या होगा? यह विचार कर (९)'' इस

१ उपदेशज इत्यपि पाठः

वाक्य द्वारा अपने मन के प्रति ही कहा है, वैसे यहाँ भी 'तत्' पद ही कहते, 'कहो' कहने की आवश्यकता न होती क्योंकि विचार करना अंतःकरण का ही धर्म है। परंतु ऐसा भक्त; जिसे श्रीमहाप्रभु उपदेश कर रहे हैं, वैसा भक्त ढूँढने लायक है क्योंकि हमारे सौभाग्यभूषण श्रीमदाचार्यों ने इस कारिका में 'यदि' पद का उपयोग करके कहा है। अतः यह दिशा स्पष्ट हुई।

अत्रायं निगूढाशयः । पूर्वं देवभजनमेव दुर्लभं, तत्रापि देवाधिदेवस्यातिदुर्लभम् । क्व योगिध्येयो भगवान्ब्रह्मादिदुर्लभो निर्दोषपूर्णगुणविग्रह आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः, क्व सकलदोषात्मको दुःखैकसदनरूप आनन्दशून्यो जीवः । अत एव सर्वधर्मान्परित्यज्येत्यन्यथाकृतौ श्रीविट्ठलवरोक्तिसुधासारो 'ब्रह्मस्तुत्यादिदुरापचरणरेणुरीश्वरः काहं तुच्छो जीव' इति । ततोपि गोकुलेशस्य यशोदोत्सङ्गलालितस्य श्रीगोकुलैकस्वामिनः पुरुषोत्तमस्य श्रीनन्दात्मजस्यात एव 'पुरुषोत्तमस्तु नन्दगृह एवे'त्यस्मत्प्रभुवाक्पीयूषं, तत्रापि श्रीगोकुलेशस्य परमसौन्दर्यसुन्दरस्य सुतरां ततोप्युक्तभावेन ततस्तरां तत्तथा । अत एव श्रीभागवततत्त्वार्थदीपे 'कृष्णशब्देन परं वस्तूच्यते तदेव कदाचित्परमसौन्दर्यं प्रकटं करिष्यामीतीच्छया प्रादुर्भूतं सच्छ्रीकृष्ण' इति श्रीमदाचार्यमधुरं वचः । 'भक्तिमार्गे फलं कृष्णस्तदास्वादस्सुदुर्लभ' इति च । इति च प्रस्तुतासंभावनायां, कदाचित्कस्यचिद्दैवजीवस्य देहस्य च प्रचुरतरभाग्योदयेन 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्य' इति श्रुतितः स्वमुखारविन्दनिष्ठसुधासाररूपाचार्यचरणापारकरुणया तदनुग्रहतस्तदुररीकारेण तादृग्भजनतस्तदुद्रेकदशायां श्रीनन्दराजकुमारसुकुमारनिजचरणकुवलययुगलतरलतरलितपरागसंबलितमनोमधुलिह एव तल्लेह्यमिति निगर्वः । एतेनैतादृग्भजनाधिकारी चैतत्कालावच्छेदेन दुर्लभ इति सूचितम् । तथा चैतन्निरूपणेनैतन्मार्गीयदिदृक्षालक्षणतृतीयपुरुषार्थोपि निरूपितोप्यभूत् । न हि तादृक्स्वरूपानन्दानुभवोत्तरं कस्यचिदपि लोकोत्तरपरमानन्दरूपस्य पुनर्दिदृक्षाऽसंभवः, प्रत्युत क्षणमपि तदृर्शनमन्तरेण स्वरूपानन्दसुधापानपरैस्ततोन्यत्र स्थातुमशक्यं, किं पुनर्वाच्यं दिदृक्षामृते तथात्वं तथेति । अत्रोदाहरणानि व्रजजनरत्नान्येवानुसन्धेयानि । अत एव फलप्रकरणे 'यर्ह्यम्बुजाक्षे'त्यादि तैरेव गीतम् । 'क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाभव'दितिवाक्यतस्तासां तद्वियोगकालीनं क्षणमपि सोढुं तावत्परिमाणकमिति पूर्वोक्तमखिलं कमनीयम् ॥ ३ ॥

यहाँ आशय यह है कि पहले तो देवभजन ही दुर्लभ है। तिस पर देवादिदेव श्रीकृष्ण का भजन तो अतिदुर्लभ है। कहाँ योगियों के द्वारा ध्येय, ब्रह्मादि को दुर्लभ, निर्दोषपूर्णगुणस्वरूप आनंदमात्रकरपादमुखोदरादि स्वरूप भगवान और कहाँ सकल दोषात्मक-दुःखों का घर रूपी - आनंदशून्य जीव। अतएव यदि सर्वधर्मान्परित्यज्य' इस उक्ति को एक बार न भी सोचें तब भी श्रीविट्ठलवर ने अपनी उक्ति की सुधा का सार ''कहाँ ब्रह्माजी द्वारा स्तुत्य दुर्लभ भगवद्-चरणरेणु, कहाँ मैं तुच्छ जीव'' इन शब्दों से कहा है। उस पर भी गोकुलेश-यशोदोत्संगलालतिगोकुल के एक स्वामी-पुरुषोत्तम-श्रीनंदकुमार का; अतएव 'पुरुषोत्तम तो नंदगृह में ही'' यह हमारे श्रीमहाप्रभु की वाक्सुधा है। उस पर भी श्रीगोकुलेश का परमसौन्दर्य से सुंदर प्रभु से अधिक उस पर भी कहे गये सर्वात्मभाव से भजन करना उत्तम है अतः दुर्लभ है। अतएव श्री भागवत के तत्वार्थदीपनिबंध में ''कृष्ण शब्द से परम वस्तु कही जा रही है, वही परमवस्तु कदाचित् 'परमसौंदर्य प्रकट करुँगा' इस इच्छा से श्रीकृष्ण प्रादुर्भूत हुए'' एवं ''भक्तिमार्ग में फल श्रीकृष्ण है एवं उसका आस्वाद सुदुर्लभ है'' यह श्रीमदाचार्य के मधुरवचन हैं। एवं, इस प्रकार प्रस्तुत विषय श्रीकृष्णरूपी फल-आस्वादन की तो असंभावना ही है, अतः कदाचित्, किसी दैवी जीव एवं देह के प्रचुरतर भाग्योदय के द्वारा ''यह जिसका वरण करता है, उसे ही प्राप्त होता है (कठो. १/२/२३)'' इत्यादि श्रुति द्वारा भगवान के मुखारविंद में रहने वाली सुधा के साररूप श्री आचार्यचरण की अपार करूणा से भगवान के अनुग्रह द्वारा स्वीकार किया होने के कारण, वैसे भजन के द्वारा उस भजन की उद्रेगदशा में श्रीनंदराजकुमारसुकुमार के चरणकमलयुगलों की तरलता से तरलित पराग से युक्त जिसका मन हुआ है, ऐसा भौंरा ही उस भगवद्रस को चाट सकता है, यह गूढ़ार्थ है। इससे इस प्रकारक भजन का अधिकारी इस काल में दुर्लभ है, यह सूचित किया है। एवं इस प्रकार के निरूपण द्वारा पुष्टिमार्गीय दिदृक्षा का लक्षणरूपी तृतीय पुरुषार्थ भी निरूपित हो गया। निश्चित ही ऐसे प्रभु के स्वरूपानंद के पश्चात् किसी भी लोक के अन्य परमानंदरूप की पुनः दिदृक्षा होना असंभव है, प्रत्युत प्रभु के स्वरूपानंद की सुधा का पान करने वालों को ऐसे दर्शन के बिना क्षणमात्र उनसे अन्यत्र रहना अशक्य होता है अतः यदि ऐसी दिदृक्षा के बिना उन्हें रहना ही असंभव हो जाता हो तो इसमें क्या कहना? यहाँ व्रजजनों की रत्ना गोपिकाओं का उदाहरण अनुसंधेय है। अतएव फलप्रकरण में 'हे कमलनयन! (श्री.भा. १०/२९/३६)'' इत्यादि वाक्य से गोपिकाओं ने गाया है। ''एक क्षण जिनके बिना सौ युग की भाँति हुआ (श्री.भा. १०/१९/१६)'' इन वाक्यों से उन गोपिकाओं को वह भगवद्-वियोग का काल क्षणमात्र के लिए भी सहन करना सौ युगों के परिमाण जितना लगता था। अतः पूर्व में कहा गया समस्त भाव मनोहर है ॥ ३ ॥

एवं तृतीयं तं निरूप्य तुर्यं तथा निरूपयन्ति-अत इति ।

अतः सर्वात्मना शश्वद्गोकुलेश्वरपादयोः ।
स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यमिति मे मतिः ॥ ४ ॥

अत्रायमाशयः । ब्रजजनवृन्दवाञ्छाकल्पतरुशीलः श्रीगोकुलाधिपतिरदेयस्वस्वरूपानन्ददानक्षमोपि प्रभु'र्मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययु'रितिवाक्यतः पुष्टिश्रुतिरूपभक्तवाङ्मनोगोचरातीतपरमानन्ददायको यतः, अतः कारणाद्धेतोर्वा सर्वात्मनोक्त भावेन शश्वन्निरन्तर्येण गोकुलेश्वरपादयोरनन्यगोकुलस्वामिनः पुरुषोत्तमस्य भक्तिरूपचरणसरसिजयोः स्मरणं भजनं सेवनं, स्मरणं नामानुभवजनकसंस्काराव-बोधरूपमिति तु तार्किकाः । भगवन्मते त्वनुभवजन्यमेव स्मरणमिति राद्धान्तः । एतत्स्फुटीकृतं 'सद्यो नष्टस्मृतिर्गोपी'त्यत्र सुबोधिन्या-शयविशदीकरणे भगवद्गूढाशयज्ञैरित्यलं बहुना । चकारात्तद्रजोभिलषणमपि न त्याज्यम । भक्तैरिति शेषः । यत्र वक्षःस्थलस्थिताया अपि श्रियो यदभिलाषा, तत्रेतरेषां तथात्वे किं वाच्यम् । साक्षाच्छ्रीगोकुलाधिपतिभजनोपयोगिभगवदीयदेहसम्पादकत्वात्तस्येति भावः । अत एव तच्चरणकमलरजसो दुर्लभत्वं सूचितं फलप्रकरणे तदभिज्ञैः 'श्रीर्यत्पदाम्बुजरजश्चकमे' इति । तयोस्तथात्वोक्त्या दीनभावत्वेनैव ते कार्ये इत्यसूचि । यथा भगवतो ब्रह्मत्वमानन्दरूपत्वं च तथा तयोरपीति च । अत एव समासोक्तिरपि । अन्यथा गोकुलेशस्येत्येवोक्तं स्यात् । अत एवा'नन्दं ब्रह्मणो रूपम्' 'आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः' 'आनन्दमयोभ्यासा'दितिश्रुतिस्मृतिबादरायणाधिकरणानुशासनैर्भगवतो देहेन्द्रियादि निखिलमानन्दमात्रं, न तु लौकिकशरीरवत्कश्चन भेदोऽपीत्येव निरणायि । द्विवचनोक्त्योभयत्र समदृष्ट्या तत्करणे सूचिते न तु वामदक्षिणयोस्तारतम्यमपि लौकिकयोरिव तयोः परिभावनीयमिति भावः । अनेनापि मर्यादातो भगवन्मार्गोत्कर्षो महानेव ध्वनितः ।

इस प्रकार तृतीय पुरुषार्थ को निरूपित कर चतुर्थ पुरुषार्थ **अतः** इन शब्दों से निरूपित कर रहे हैं।

यहाँ यह आशय है कि चूँकि ब्रजजनवृंद के मनोरथों के लिए कल्पतरू स्वभाव वाले है एवं न दिया जा सकनेवाला स्वयं के स्वरूपानंद का दान करने में सक्षम हैं; ''जैसे श्रुतियाँ मनोरथों से (श्री.भा. १०/३२/१३)'' इस वाक्य से पुष्टिश्रुतिरूपा-भक्त-श्रीगोपीजनों के मन-वाणी आदि इंद्रियों से अतीत परमानंद को देने वाले हैं, **अतः** अर्थात् इस कारण या हेतु से कहे गये सर्वात्मभाव से **शश्वत्** अर्थात् निरंतरता से **गोकुलेश्वरपादयोः** अर्थात् गोकुल के अनन्यस्वामी पुरुषोत्तम के भक्तिरूप चरणकमलों का स्मरण-भजन-सेवा नहीं त्यागने चाहिए। 'स्मरण' का अर्थ तार्किक लोग केवल नाम से जनित जो भाव है, उसका अवबोधरूप मानते है। श्रीमहाप्रभु के मत में तो 'स्मरण' अनुभव से उत्पन्न होनेवाला ही है, यह सिद्धांत है। यही बात ''स्मृति तुरंत नष्ट हो गई (श्री.भा. १०/८/४४)'' इस श्लोक की सुबोधिनी का विस्तार करने में भगवान के गूढ़-आशय को जानने वाले श्रीमहाप्रभुजी ने स्फुट किया है, अतः अधिक क्या कहें? ग्रंथ की इस अतः.... मतिः इस कारिका में आए 'च' शब्द से यह समझना चाहिए कि, प्रभु के चरणरज की अभिलाषा भी भक्तों को नहीं त्यागनी चाहिए। जहाँ प्रभु के वक्षस्थल में निवास करनेवाली लक्ष्मीजी को प्रभु के चरणरज की अभिलाषा होती है, वहाँ अन्यों को हो तो इसमें क्या कहना? भगवान के चरणकमल की रज साक्षात् श्रीगोकुलाधिपति के भजन में उपयोगी भगवदीयदेह का संपादन करनेवाली होने के कारण उसकी अभिलाषा है, यह भाव है। अतएव उनके चरणकमल की रज की दुर्लभता फलप्रकरण में उसे जाननेवाले श्रीमहाप्रभु ने ''लक्ष्मी जिनके चरणकमलरज को (श्री.भा. १०/२९/३७)'' इस श्लोक की सुबोधिनी में सूचित की है। प्रभु के चरणकमलों का ऐसा माहात्म्य होने के कारण दीनभाव से ही स्मरण एवं भजन करने चाहिए, यह सूचित किया है। जैसे भगवान का ब्रह्मत्व एवं आनंदरूपत्व है, वैसे चरणकमलों का भी है, इसी कारण 'गोकुलेश्वरपादयोः' पद में 'पाद' शब्द को गोकुलेश्वर के साथ समास करके कहा है। अन्यथा 'गोकुलेश्वर का' इस प्रकार ही कह दिया होता। इसी कारण 'आनंद ब्रह्म का रूप है', ''आनंदमात्र हस्त-पाद-मुख-उदर आदि (शा.प्र./४४)'', 'आनंदमय ही ब्रह्म है (ब्र.सू. १/१/१२)'' इत्यादि श्रुतिस्मृति एवं बादरायण के अधिकरणसूत्रों द्वारा भगवान की समस्त देहेन्द्रियादि आनंदमात्र ही हैं, न कि लौकिक शरीर की तरह उनमें भेद भी है, यही निर्णीत किया है। 'गोकुलेश्वरपादयोः' इस पद में 'पाद' के लिए द्विवचन कहा होने से दोनों चरणारविंदों में समदृष्टि द्वारा ही स्मरण/भजन सूचित किया है, न कि वामदक्षिण के भेद से लौलिक चरणों की भाँति उनमें परिभावना करनी चाहिए, यह भाव है। इससे भी मर्यादा की अपेक्षा भगवान के इस मार्ग का महान उत्कर्ष ध्वनित होता है।

ननु स्मरणभजने स्वरूपानन्दानुभवानन्तरमेव सम्भवेतां न तु तदर्वागिति चेदत्रैतत्तात्पर्यमवधेयं प्रज्ञाविशेषभावनाचतुरैः । उपक्रमोपसंहारयोः केवलं प्रभुमात्रोद्देशतोन्तरङ्गभक्तसहितस्य तथात्वेनोक्तप्रकारेण भजँस्तदुत्कर्षदशायां परमकरुणाकरः प्रभुः प्रसन्नः सन्मदीयं परमसौन्दर्यं पश्यत्वितीच्छया मध्ये भजनानन्दानुभवं तस्य कारयतीत्यध्यवसीयत इति तदनुभवस्यापि सिद्धत्वेनोक्तोभयमपि युक्तमेवेति न पूर्वपक्षिपक्षपातावसर इति । किञ्च, स्मरणं मनोधर्मः, भजनं मानसं कायिकं च । अत एवं 'चेतस्तत्प्रवणं सेवा मानसी सा परा मते'ति मुक्तावलच्याम् । सैव प्रेमलक्षणा भक्तिः स्वतन्त्रैव, अत एव 'भक्त्या सञ्जातया भक्त्ये'त्युक्तिः । शाण्डिलचैरप्येतदेवासूचि 'सा परानुरक्तिरीश्वर' इति । मानसं च तत्प्रभ्वनुग्रहैकसाध्यं न तु ततोऽन्यसाधनसाध्यं, तत्त्वं तु स्वरूपानन्दानुभवभावात्मकमत एव 'भावो भावनया सिद्धः साधनं नान्यदिष्यत' इति श्रीवैश्वानरचरणैः । न च 'भावनये'ति तृतीयान्तेनैव साधनमतः 'साधनं नान्यदिष्यते' इति साधनान्तरनिषेधः, इतरथा साधनमितिपदं न वदेयुरेवेति चेत्, सत्यं, तथापि तस्यापि हेतोरवश्यवाच्यत्वेन तदनुग्रह एव ताद-

ग्वाच्यः । तथा तदनुग्रह एव तदास्तां, कृतं तयेति चेदिष्टापत्तिरत एवास्मत्प्रभुचरणैर्गीतं 'अनुग्रहः पुष्टिमार्गे नियामक इति स्थितिः' । इतिस्थितिर्नाम भक्तिमार्गीया मर्यादा । तेन भक्तिमार्गे साधनरूपः फलरूपश्च पुरुषोत्तम एव, न तु मार्गान्तरवत्तयोर्भेद इति निरूपितम् ।

यहाँ एक शंका यह होती है कि, स्मरण-भजन तो स्वरूपानंद के अनुभव के पश्चात् ही संभव होते हैं, न कि उससे पहले? तो विशेष बुद्धिमानों एवं भावचतुरों को इसका तात्पर्य समझ लेना चाहिए। भजन के आरंभ में एवं अंत में केवल प्रभु के ही उद्देश्य से अंतरंगभक्तों के सहित कहे गये प्रकार से भजन करते हुए जब उस भजन की उत्कर्ष दशा में परमकरूणाकर प्रभु प्रसन्न होते हुए, वे 'मेरे सौंदर्य को देख' इस इच्छा से भक्त को मध्य में ही भजनानंद का अनुभव कराते हैं, यह समझ लेना चाहिए। अतः यह अनुभव भी सिद्ध हो जाने से स्मरण भजन दोनों युक्त ही हैं अतः पूर्वपक्षी को अब किसी शंका का अवसर नहीं है। और, 'स्मरण' मन का धर्म है; भजन मानसिक एवं कायिक है। अतएव 'चित्त की भगवान में प्रणवता ''सेवा है (२)'', ''मानसी श्रेष्ठ है (१)'' यह सिद्धांतमुक्तावली' में कहा है। वही प्रेमलक्षणाभक्ति स्वतंत्र ही है। अतएव ''भक्ति से उत्पन्न भक्ति द्वारा (श्री.भा. ११/३/३१)'' यह कहा है। शांडिल्य ने भी यही 'ईश्वर में परम अनुराग 'भक्ति' है' इस वाक्य से सूचित किया है। एवं 'मानसी' तो केवल प्रभु के अनुग्रह से साध्य है, न कि उस से भिन्न दूसरे साधनों से साध्य है, तत्व तो यह है कि स्वरूपानंद का अनुभव तो भावात्मक है वह क्रिया से नहीं हो सकता अतः ''भाव, भावना से सिद्ध होता है, अन्य साधन अपेक्षित नही हैं (सं.नि./८)'' यह वैश्वानरचरण श्री महाप्रभुजी ने कहा है। और, इस श्लोक में 'भावनया' यहाँ तृतीया विभक्ति से भावना ही प्रभुप्राप्ति में एकमात्र साधन है, ऐसा नहीं है। किंतु यहाँ यदि ये शंका करें कि यदि 'भावना' प्रभुप्राप्ति की साधन नहीं है साधन तो कोई और है तो 'अन्य साधन अपेक्षित नहीं हैं' इस वाक्य से अन्य साधनों का निषेध क्यों किया? या फिर यो कहें कि तब आचार्यचरण 'साधन' यह पद ही नहीं कहते तो आपका कहना सत्य है। फिर भी उस भगवद्-प्राप्ति का हेतु कहना आवश्यक हो जाने से भगवान का अनुग्रह ही 'साधन' शब्द का वाचक है। अर्थात् प्रभु प्राप्ति में भगवद्-अनुग्रह ही साधन है। अतः ''भगवान के अनुग्रह पर ही रूक जाएँ एवं भावना पर नहीं'' यदि ऐसा कहें तो यह आपत्ति हमें इष्ट है। क्योंकि आपके द्वारा उठाई गई आपत्ति ही हमारा मत भी है। अतएव हमारे श्रीमहाप्रभु में 'पुष्टिमार्ग अनुग्रह' नियामक है, यह स्थिति है (सि.मु./१८)'' यह गाया है। यह स्थिति का अर्थ है, यह भक्तिमार्ग की मर्यादा है। इससे, भक्तिमार्ग में साधनरूप एवं फलरूप श्रीपुरुषोत्तम ही हैं न कि दूसरे मार्ग की तरह इन साधन एवं फल दोनों में भेद है।

किञ्च, स्मरणं मनोधर्मस्तेन मनसा स्मरणपूर्वकं भजनं कार्यं, न तु बाह्यतः कायिकमात्रं तदित्यर्थः । एतेन वाचनिकमपि तन्नामसङ्कीर्तनादिरूपमाक्षिप्तं, यतो वाचः पूर्वरूपं हि मनः, 'यद्धि मनसा ध्यायति तद्वाचा वदती'त्यादिश्रुतेः । अवशिष्टावसरे तत्कथाश्रवणादिकं च तथेत्यपि समुचितमत एव 'तत्कथाश्रवणादौ वे'त्यपि भाषितम् । 'सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवे'दित्यस्मदाचार्यचरणवचनरचना भक्तिवर्धिन्याम् । ननु 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्य' इतिश्रुतेस्तद्वरणेनैवोक्तभावेन तच्चरणस्मरणादिसम्भवेऽयमुपदेशप्रयासः प्रयास एवेति कस्यचिद्बहिर्मुखमौखर्यं परिहरन्तः स्वमतिं प्रमाणयन्ति इति मे मतिरिति । मे मत्सम्बन्धिनी मदीया, मतिःबुद्धिरिति एवंरूपा उक्तप्रकारे व्यवसायात्मिकेत्यर्थः ।

और, 'स्मरण' मन का धर्म है, इस कारण मन से स्मरणपूर्वक भजन करना चाहिए, न कि बाहर से मात्र कायिक भजन करना चाहिए, यह अर्थ है। इससे, वाणी द्वारा किया गया प्रभु का नाम-संकीर्तन भी समाविष्ट हो जाता है क्योंकि 'वाणी' का पूर्वरूप मन है। यही बात 'जैसा मन ध्यान करता है, वैसे वाणी बोलती है'' इस श्रुति से कही गई है। प्रभुसेवा से अवशिष्ट समय में उनकी कथा एवं श्रवणादि भी मन लगाकर करने चाहिए, यह समुचित है, अतएव 'उनकी कथा या श्रवणादि' यह भी कहा है। ''सेवा या कथा में जिसकी आसक्ति दृढ़ होती है (९)'' यह हमारे आचार्यचरणों की भक्तिवर्धिनी में वचनरचना है। यहाँ शंका यह होती है कि यदि 'जिसका यह वरण करता है उसे ही प्राप्त होता है (कठो.१/२/२३) इस श्रुति से कहे गये भगवद्-वरण के भावल से ही उनके चरण का स्मरण आदि संभव होता है तब तो स्मरण/भजन के उपदेश का प्रयास तो मात्र प्रयास ही है'' ऐसी किसी बहिर्मुख की बकवाद का परिहरण करते हुए इसे स्वमति द्वारा **इति मे मति** इन शब्दों से प्रमाणित कर रहे हैं। **मे** अर्थात् मुझसे जो संबंधित है वह मेरी **मतिः** अर्थात् बुद्धि **इति** अर्थात् इस तरह की व्यवसायात्मिका है, यह अर्थ है।

अत्रायमभिसन्धिः । यद्यपि पूर्वोक्तमुक्तश्रुत्यादिना तदनुग्रहसाध्यं, तथापि स्वस्य तादृग्भगवन्मुखारविन्दरूपाधिष्ठातृत्वात्तदभिज्ञतया मे मतिरित्युक्तिर्भगवदुक्तिरेव । तथा चोक्तप्रकारेण तत्करणेऽनुग्रहं करिष्यत्येव परमदयालुः श्रीमन्नन्दराजकुमारः श्रीगोकुलजनलोचनचातकचेतोहरनवनीरदसुन्दरो, यतो यथा श्रीगोकुल उलूखलबन्धनप्रस्तावे प्रसङ्गतो नारदोक्तमपि निजोक्तमेवेति तदवस्थातोपि तत्साधनमन्तरेणापि स्वप्रयत्नेन तदुक्तमात्रेण महदायासेन स्वयमेव तत्र गत्वा नलकूबरमणिग्रीवयोस्तरुरूपयोरन्तरगत्योलूखलतत्सङ्कर्षनेन तौ भूमौ

पातयँस्ततो निसृतलब्धस्मृतदिव्यशरीरयोस्तयोस्तादृक्स्तवननमनप्रदक्षिणादीनङ्गीकुर्वन्नुद्धुतवानत एव 'तत्तथा साधयिष्यामि यद्गीतं तन्महात्मने'ति श्रीकृष्णचन्द्रोक्तिः । एवञ्च स्वमुखारविन्दोक्तमखिलं स्वोक्तमेव कुतो न कुर्यादिति मद्विश्वासेन पूर्वोक्तमदुक्तकरणेन भगवदीयैर्निश्चिन्ततया स्थेयमिति भावः । यद्वा, मे मतिरिति भेदबोधकषष्ठ्या स्वमतेः स्वातन्त्र्यमसूचि । अत एवासमासोक्तिरपि । अन्यथा मन्मतिरित्येव वदेयुः ।

यहाँ यह अभिप्राय है कि, यद्यपि पूर्व में कही श्रुति के अनुसार वह भजन अनुग्रहसाध्य ही है, तथापि स्वयं श्रीमहाप्रभु, भगवान के मुखारविंद के अधिष्ठाता होने के कारण भगवान से संपूर्णरूप से भिन्न होने के कारण **मे मति** यह कहना भगवान का ही कथन है। और, कहे गये प्रकार से भगवद्-भजन करने पर परमदयालु-श्रीमद्-नंदराजकुमार-श्रीगोकुलवासियों के नेत्ररूपी चातक के चित्त को हरनेवाले नवीन मेघ के समान सुंदर प्रभु अनुग्रह करेंगे ही। क्योंकि जिस प्रकार श्रीगोकुल में ऊखल बंधन लीला में प्रसंग से ''नारद का कहा भी मेरा ही कहा है'' यह सिद्ध करने के लिए उस बांधी गई अवस्था से भी नारद जी के बिना किसी साधन द्वारा केवल कथन मात्र से प्रभु ने अपने प्रयत्नों से बड़े प्रयास करके स्वयं ही वहाँ जाकर वृक्षरूप नलकूबर एवं मणिग्रीव के अंतर्गत होकर ऊखल को उनमें फंसाकर उन दोनों को भूमि पर गिरा दिया। इसके पश्चात् वृक्ष में से निकले उन दोनों के दिव्य शरीरों द्वारा स्तवन, मनन, प्रदक्षिणा आदि अंगीकार करते हुए उनका उद्धार किया, अतएव श्रीकृष्णचंद्र ने ''जिस प्रकार महात्मा नारद ने कहा है, उन्हें मैं उसी प्रकार से साध लूँगा (श्री.भा. १०/१०/२५)'' यह कहा है। अतः अपने मुखारविंदस्वरूप श्रीमहाप्रभु का समस्त कथन स्वयं प्रभु ने ही कहा है अतः उनका कहा क्यों नहीं करेंगे? अतः मेरे विश्वासपूर्वक पूर्व में मेरे द्वारा कहे को करने से भगवदीयों को निश्चितता से रहना चाहिए, यह भाव है। अथवा, **मे मतिः** इस पद के अंतर्गत **मे** शब्द में भेदबोधक षष्ठी है, इससे स्वमति की स्वतंत्रता सूचित की है। अतएव समास द्वारा भी नहीं कहा है। अन्यथा 'मन्मति' यह ही कह देते, 'मे मति' कहने की आवश्यकता नहीं थी।

तेनायमाशयः । भारते भीष्मयुद्धे पार्थरथार्थं श्रीमद्यदुकुलजलधिसुधाकरः स्वप्रतिज्ञातामप्यम्नायरूपां स्वोक्तिं वितथीकृत्य तत्प्रार्थनाभावेपि स्वत एव तत्स्यन्दनकगिरिशिखरतः सत्वरमुत्तरंश्चपलजलद इव चक्रपाणिस्तेन सह युद्धार्थं प्रवृत्तस्तत्प्रतिज्ञामेवापालयत् । यत्र मर्यादायामपि तद्भक्तकृतप्रतिज्ञानिर्वाहकरणं तत्र पुष्टौ निजाज्ञया प्रकटीभूतसाक्षात्स्वस्यैव मुखारविन्दाधिष्ठातृरूपस्य वस्तुतः स्वस्यैव तस्य तस्याधनसम्पत्तौ सत्यां स्वयमेव स्वस्यैवाभिलषितसम्पादनेन स्वोक्तमेव तदुक्तं कथं न करिष्यतीतिभावः । स्वानभिलषितमपि वा पूर्वोक्तहेतोर्मदुक्तमिति करिष्यत्येव । एतेन स्वस्य धर्ममार्गाभिमानप्रौढत्वमपि ध्वनितम् । अत एव सिद्धवत्कारेणास्मत्प्रभुचरणानां तादृग्व्याहार इत्यलं शङ्कान्वेषणाविलासैः । एतेन तदीयत्वसिद्धिस्तत्सिद्धौ पुष्टिमार्गीयचरमपुरुषार्थोपि सिद्ध इत्युक्तं भवति । अत एव 'मोक्षः कृष्णस्य चेद्ध्रुव'मित्युक्तलक्षणो मोक्षस्तदभिज्ञैरेव भाषित इति संक्षेपः ॥ ४ ॥

इसका आशय यह है कि, महाभारत में भीष्मयुद्ध के समय में अर्जुन के रथ के लिए श्रीमद्-यदुकुल के सिंधुचंद्र श्रीकृष्ण ने स्वयं की वेदरूपा प्रतिज्ञा, या स्वयं की कथनी की असत्य कर के भीष्म को प्रार्थना के बिना ही स्वयं ही अर्जुन के रख के पर्वताशिखर से शीघ्र ही उतरकर चपल मेघ की भाँति हस्त में चक्र धारण कर भीष्म के संग युद्ध के लिए प्रवृत्त हो गये और उसी की ही प्रतिज्ञा का पालन किया। अतः जहाँ मर्यादा में भी भगवान उनके भक्तों द्वारा की गई प्रतिज्ञा का पालन करते हैं, वहाँ पुष्टि में स्वयं की आज्ञा से प्रकट हुए साक्षात् स्वयं के, ही अधिष्ठातारूप के वस्तुतः स्वयं ही भक्त की साधनसंपत्ति हो जाने पर स्वयं ही स्वयं की अभिलषित वस्तु के संपादन द्वारा एवं; चूँकि उन श्रीमहाप्रभु का कहा उनका ही कहा है; अतः क्यों नहीं करेंगे? अवश्य ही समस्त वस्तुओं का संपादन करेंगे, यह भाव है। अथवा, स्वयं को जो अभिलषित न हो वह भी पूर्व में कहे हेतु से 'यह मेरा अर्थात् श्रीमहाप्रभु का कहा हुआ है अतः करेंगे ही। इससे, स्वयं के धर्ममार्ग के अभिमान की प्रौढ़ता भी ध्वनित हो रही है। अतएव सिद्धकारण से हमारे श्रीमहाप्रभु का ऐसा व्यवहार है। अतः शंकान्वेषण के विलासी के लिए पर्याप्त कह दिया गया है। इससे तदीयत्व की सिद्धि होती है एवं वह सिद्ध होने पर पुष्टिमार्गीय चरमपुरुषार्थ भी सिद्ध होता है, यह कहा गया है। अतएव 'यदि कृष्ण के हैं, तो मोक्ष निश्चित है'' इस श्लोक में कहा लक्षण 'मोक्ष' है एवं इसके जानने वाले श्रीमहाप्रभु ने ही कहा है, यह संक्षिप्त रूप से कहा गया ॥ ४ ॥

यद्यप्यनुचितमेतन्मत्वोचितं रचितमेतदस्माभिः ।
क्षन्तुं तमपि प्रभवो मन्तुं मे वल्लभप्रभवः ॥ १ ॥
मया नामानुसारेण महानेवानयः कृतः ।
यत्तत्कृतचतुःश्लोकीव्याख्याने विधृता मतिः ॥ २ ॥

श्रीमद्गोस्वामिश्रीमथुरानाथकृतव्याख्यानान्विता ।

कृपालवस्त एवैतदागःक्षन्तुं ममेदृशः ।
प्रभवो विट्ठलाधीशा मदीयोयमिति स्वतः ॥ ३ ॥
रमणी रुचिरा टीका भूयान्मधुरभाषिणी ।
करसम्बन्धमात्रेण विद्वदानन्ददायिनी ॥ ४ ॥
इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणशरणैकधनिना श्रीविट्ठलपदकमलपरागपरिमललुब्धमधुना निर्मिता
चतुःश्लोकी व्याख्या वृत्ता

यद्यपि हमारे द्वारा रचित यह टीका अनुचित है किंतु 'मेरा है' यह जानकर
उचित मानें एवं उस अपराध को भी वल्लभप्रभु क्षमा करें ॥ १ ॥
मैंने, जिन श्रीवल्लभकृत चतुःश्लोकी के व्याख्यान में अपनी बुद्धि लगाकर,
स्वयं के नामानुसार ही बड़ी व्याख्या कर दी है, यह अन्याय किया है ॥ २ ॥
वे ही कृपालु विट्ठलाधीश 'यह मेरा है' यह जानकर
मेरे ऐसे अपराध को क्षमा करने में समर्थ हैं ॥ ३ ॥
यह टीका रमणी, रुचिरा मधुरभाषिणी हो एवं
हाथ में लेने मात्र से विद्वानों के लिए आनंददायिनी बने ॥ ४ ॥
यह, एक श्रीवल्लभाचार्यचरण के धनी, श्रीविट्ठलचरणकमल के
पराग की सुगंध से लुब्ध भ्रमर द्वारा चतुःश्लोकी व्याख्या पूर्ण हुई।

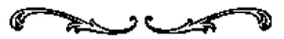
श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

चतुःश्लोकी ।

श्रीकृष्णरायभट्टविरचितसर्वार्थबोधिकाव्याख्यासमेता ।



श्रीमद्वल्लभपादाब्जयुगलं विगलन्मधु ।
नमाम्यहं सदानन्दरूपं सर्वार्थसिद्धिदम् ॥ १ ॥
श्रीविट्ठलपदद्वन्द्वं नत्वा मधुसुपूरितम् ।
कुर्वेहं श्रीमदाचार्यकृपापूरितवाङ्मनाः ॥ २ ॥
तत्कृतायाश्चतुःश्लोक्या व्याख्यां सर्वार्थबोधिकाम् ॥

अथ श्रीमदाचार्यचरणाः स्वीयानां सकलनिरतिशयसाधनसाध्यफलप्राप्त्यर्थं शुद्धपुष्टिमार्गीयातिरिक्तसाधनासाध्यफलं चात्र ज्ञापयितुं सकलवेदवेदान्तप्रतिपाद्यशुद्धपुष्टिमार्गीयभक्तिस्वरूपं तत्साधनं तत्सेव्यस्वरूपं च वक्तुं स्वसिद्धान्तोक्तसुबोधिन्यणुभाष्यादिरहस्यं सङ्क्षेपतश्चतुःश्लोक्या आहुः – सर्वदेति ।

सदानंदरूप, सर्वार्थसिद्धिदायक, विगलित हो रहा है मधु जिनसे
ऐसे श्रीमद्वल्लभचरणकमल-युगल को मैं नमन करता हूँ ॥१॥
कृपामधु से पूरित श्रीविट्ठल के चरणयुगलों को नमन कर
श्रीमदाचार्यकृपा से पूरित वाणी-मनवाला मैं, उनके द्वारा की गई
चतुःश्लोकी की सर्वार्थबोधिका व्याख्या कर रहा हूँ ॥ २ ॥

अथ श्रीमदाचार्यचरण स्वीयों को संपूर्ण निर्दुष्ट साधनों से साध्य फल प्राप्त करने के लिए एवं शुद्धपुष्टिमार्गीय से अतिरिक्त अन्य साधनों से असाध्य फल बताने के लिए संपूर्ण वेद वेदांत में प्रतिपादित शुद्ध पुष्टिमार्गीय भक्तिस्वरूप उसके साधन एवं उसके सेव्यस्वरुप कहने के लिए स्वसिद्धांत में कहा सुबोधिनी-अणुभाष्यादि का रहस्य संक्षेपतया चतुःश्लोकी द्वारा **सर्वदा** इस पद से कह रहे हैं।

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः ।
स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः क्वापि कदाचन ॥ १ ॥

सर्वदेति न कालनियमोत्र । सर्वकाले निरन्तरम् । नो चेद्भजनाभावे ह्यासुरावेशः स्यादित्यर्थः । सर्वभावेन व्रजाधिपो भजनीयः । यादृशो भावो भगवता सम्पाद्यते, कोपि भावः । भावो मनोवृत्तिः । यथा नन्दयशोदादीनां वात्सल्यभावः । तथाभावेन भजनीयः । अथवा, सख्यभावेन । यद्वा, मुख्यस्वामिनीनामिवासाधारणस्नेहभावेन । तत्र साधनदशायां यावद्भगवति कोपि भावो नोत्पद्यते तावद्भजने क्रियमाणे राजसेवकवद्भयोपि[1] रक्षणीयोपराधाभावार्थम् । नियमस्तु पतिव्रताया इव सर्वथैव भगवद्भजने रक्षणीयः । यथा पतिव्रतायाः पतिभजनं विहायान्यद्धर्मादिकं गौणं, तथा भगवद्भजनं विहायान्यद्धर्मादिकं गौणमेवेति । यद्वा, सर्वभावेन सर्वात्मभावेन सर्वप्रकारेणात्मनः स्वस्य जीवस्य भावो मनोवृत्तिर्भगवति ।

सर्वदा इस पद से यहाँ कालनियम नहीं है। सभी काल में अर्थात् निरंतर। यदि नहीं, तो भजन का अभाव होने पर निश्चय ही आसुरावेश होता है, यह अर्थ है। **सर्वभावेन व्रजाधिपो भजनीयः** इन शब्दों की व्याख्या करते हैं। जैसा भाव भगवान द्वारा संपादित होता है ऐसा कोई भी भाव। भाव मनोवृत्ति है। जैसे नन्दयशोदादि का वात्सल्यभाव अथवा सख्य भाव से। अथवा मुख्य स्वामिनियों की भाँति साधारण स्नेह से। वैसे भाव से भजनीय हैं। वहाँ, साधनदशा में जब तक भगवान में कोई भी भाव उत्पन्न नहीं होता है, तब तक भजन

१ भयमपि रक्षणीयमिति युक्तं, 'त्रासो, भितीभीः साध्वसं भय'मित्यमरे तस्य नपुंसकलिङ्गदर्शनात् ।

करते हुए राजा के सेवक की भाँति भय भी रक्षणीय है, अपराध के अभाव के लिए। टीकाकार यहाँ 'सर्वभावेन व्रजाधिपो भजनीयः' का अर्थ कर रहे हैं। उपर्युक्त विभिन्न अर्थों में एक अर्थ वह यह भी कह रहे हैं कि, जीव जब तक साधनदशा में हो तब तक उसे भगवान से थोड़ा-बहुत भय भी रखना चाहिए कि जिससे वह भगवदपराध न हो जाए या वह अपराध से बच सके, यह अर्थ है। नियम तो यह है कि पतिव्रता की भाँति सर्वथा ही भगवद्-भजन में भय रक्षणीय है। जिस प्रकार पतिव्रता को पतिभजन छोड़कर अन्य धर्मादि गौण होते हैं, उस प्रकार भगवद्-भजन छोड़कर अन्य धर्मादि गौण ही होते हैं। अथवा सर्वभाव से अर्थात् सर्वात्मभाव से अर्थात् सभी प्रकार से आत्मा का अर्थात् स्वयं का अर्थात् जीव का भाव अर्थात् भगवान में मनोवृत्ति।

यद्वा, सर्वेषु स्थावरजङ्गमेषु आत्मनो भगवतो भावनाभावः । तेन तदुक्तं 'सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः । भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तम' इतिवाक्यात् । भजनीयः सेवनीयः । सेवा कर्त्तव्या । सेवा च स्वामिनो मनोनुकूला स्ववृत्तिः, तस्या ज्ञानं तु शास्त्रद्वारेति विवेकधैर्यपूर्वकं कायवाङ्मनोभिर्भगवदाश्रयपूर्वकं चित्तोद्वेगप्रतिबन्धभोगादिकं विहाय सेवनं कर्त्तव्यम् । यद्वा, 'श्रवणं कीर्तन'मितिवाक्याच्छ्रवणादिरूपा नवधा भक्तिः प्रेमरूपा कार्या । सेव्यस्वरूपमाहुः—व्रजाधिप इति । व्रजस्य निस्साधनस्याधिपः स्वामी नियामकः प्रभुः फलात्मा भक्तानां त्रिविधदुःखदूरीकरणार्थमाविर्भूतः साकारो व्यापक आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिरूपः पूर्णः परब्रह्म 'रसो वै स' इतिश्रुत्या रसात्मा युगलस्वरूपः । सर्वात्मभावेन विरहाकुलितहृदयेन 'यच्च दुःखं यशोदाया' इत्यादिभावनया पूर्वोक्तवात्सल्यादिभावाविष्टेन सेव्यः । ननु 'धर्मेण पापमपनुदति' 'धर्मे सर्वं प्रतिष्ठित'मित्यादिश्रुतिभि'र्न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशु'रित्यादिना त्यागेनैवामृतत्वप्राप्तेरुक्तत्वात्कथं भजनमेवोपदिश्यत इत्यपेक्षायामाहुः-स्वस्यायमेवेति । स्वस्य जीवस्यात्मनोयमेव भगवद्भजनमेव धर्मः । हीति निश्चये । जीवात्मनो भगवदंशत्वादंशिनः सेवा युक्तैव । तस्मादस्यैव मुख्यधर्मत्वम् । अन्ये धर्मास्तु दैहिकाः । तस्मादन्येषां गौणत्वम् । अत एव 'त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरे'रित्यस्य व्याख्याने 'अस्वधर्म'मिति पदच्छेदं कृत्वा भगवच्चरणारविन्दभजनमभिहितम् । तदेव स्वधर्म इति द्योतितम् । अत एव धर्मादिभिर्यद्भवति तद्भजनेनैव भविष्यतीति दैहिकधर्माणां गौणत्वं द्योतितम् । अत एव भगवद्वाक्यं 'यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत् । योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि', 'सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसे'ति । 'यत्र योगेन साङ्ख्येन दानव्रततपोध्वरैः । व्याख्यास्वाध्यायसंन्यासैः प्राप्नुयाद्यत्र-वानपी'तीतरसाधनाप्राप्यत्वं स्वस्योक्तम् । धर्मादिप्राप्यं तु भक्तेरानुषङ्गिकफलत्वमुक्तम् ।

अथवा, सभी चल-अचल में आत्मा का अर्थात् भगवान की भावना का भाव। इससे, वह भाव "सभी प्राणियों में जो आत्मा को भगवद्भाव से देखता है, एवं पदार्थो को आत्मारुपभगवान में, वह उत्तम भागवत है (श्री.भा.११/२/४५)" इस वाक्य से कहा है। **भजनीयः** अर्थात् सेवनीय। सेवा करनी चाहिए। स्वामी के मन के अनुकूल स्वयं की वृत्ति, सेवा है एवं उस वृत्ति का ज्ञान तो शास्त्रद्वारा, विवेकधैर्यपूर्वक काया-वाणी-मन से भगवदाश्रयपूर्वक चित्त में उद्वेग करनेवाले प्रतिबंधक भोगादि को छोड़कर सेवा करनी चाहिए यह है। अथवा, 'श्रवण, कीर्तन (श्री.भा.७/५/२३) इस वाक्य से श्रवणादिरुपा-प्रेमरुपा नवधा भक्ति करनी चाहिए। सेव्य स्वरुप **व्रजाधिपः** इस पद से कह रहे हैं। व्रज के अर्थात् निःसाधनों के **अधिपः** अर्थात् स्वामी अर्थात् नियामक अर्थात् फलात्माप्रभु भक्तों के त्रिविधदुःख दूर करने के लिए आविर्भूत साकार-व्यापक, आनंदमात्र हस्त-पाद-मुख-उदर आदिरुप, पूर्ण, पब्रह्म, 'वह निश्चित ही 'रस' हैं (तै.उ.२/७) इस श्रुति द्वारा रसात्मा युगलस्वरुप हैं। सर्वात्मभाव से अर्थात् विरह से आकुलित हदय से "एवं जो दुःख यशोदा को (नि.ल./१) इत्यादि भावना से पूर्व में कहे वात्सल्यादि भाव से आविष्ट मन द्वारा सेव्य हैं। यहाँ शंका करते हैं कि, "धर्म से पाप का नाश होता है (महाना.२२/१)", "सभी धर्म में प्रतिष्ठित है (महाना.२२/१), इत्यादि श्रुतियों द्वारा "न कर्म, न प्रजा, न धन एक त्याग से ही अमृतत्व की प्राप्ति होती है (महाना.१०/५; कैव.१/३; अवधूतो/५" इत्यादि द्वारा त्याग से ही अमृतत्व की प्राप्ति को कही होने से क्यों भजन ही उपदेश कर रहे हैं? यह अपेक्षा होने पर **स्वस्यायमेव** इन शब्दों से कह रहे हैं? **स्वस्य** अर्थात् जीव का अर्थात् आत्मा का **अयमेव** अर्थात् भगवद्-भजन ही धर्म है। 'हि' शब्द निश्चय अर्थ में है। जीवात्मा के भगवदंश होने से 'अंशी' की सेवा युक्त ही है। अतः इसका अर्थात् भगवद्-भजन का ही मुख्य धर्मत्व है। अन्य धर्म तो दैहिक हैं। अतः अन्यों का गौणत्व है। अतएव "स्वधर्म का त्याग कर हरि के चरणकमल (श्री.भा.१/५/१७)" इस के व्याख्यान में 'अस्वधर्म' यह पदच्छेद कर के भगवत्-चरणारविंद का भजन कहा है। वही स्वधर्म है, यह द्योतित किया है। टीकाकार उपर्युक्त श्रीमद्भागवत की पंक्ति के संदर्भ में श्रीमहाप्रभु द्वारा सुबोधिनी में कही एक बात पर ध्यान दिलाना चाह रहे हैं। मूल भागवत में पंक्ति 'त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरेः...' इस प्रकार है, जिसका अर्थ होता है अपने स्वधर्म को छोड़कर हरि के चरणकमलों का भजन करना चाहिए। किंतु श्रीमहाप्रभु यहाँ पाठभेद मानकर 'त्यक्त्वास्वधर्मं चरणाम्बुजं हरेः' इस प्रकार दीर्घ-संधि मान रहे हैं जिसका अब अर्थ होता है अपने अस्वधर्मों को छोड़कर हरि के चरणकमलों का भजन करना चाहिए। टीकाकार यहाँ श्रीमहाप्रभु के इसी अर्थ का उदाहरण देकर समझाना चाह रहे हैं कि भगवद्-भजन से विमुख करनेवाले अन्य सभी अस्वधर्मों का त्याग

करके भगवद्-भजन निरंतर करना चाहिए, यह अर्थ है। अतएव धर्मादि अर्थात् धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष द्वारा जो होता है, वह भजन से ही हो जायेगा अतः दैहिक धर्मो का गौणत्व द्योतित किया है। अतएव कर्म, तपस्या, ज्ञान, वैराग्य, योग, दान, धर्म आदि से भी जो कुछ प्राप्त होता है, वह सभी मेरे भक्तियोग से मेरा भक्त प्राप्त कर लेता है (श्री.भा.११/२०/३२,३३)'', ''प्रयत्न शील साधक भी मुझे योग, सांख्य, दान, व्रत, तप, यज्ञ, व्याख्या, स्वाध्याय, संन्यास से प्राप्त नहीं कर सकते (श्री.भा. ११/१२/९) इत्यादि भगवद्-वाक्यों में इतर साधनों से स्वयं को भगवद्-भजन अप्राप्य कहा है। मर्यादामार्गीय धर्मादि की प्राप्ति तो भक्ति का गौण फल कहा है।

नान्य इति । क्वापि कुत्रापि कदाचिदप्यन्यो धर्मो नास्ति । अन्यच्च, यं भगवान्स्वीयत्वेनानुगृह्णाति 'यमेवैष वृणुत' इतिश्रुते'भक्त्या त्वनन्यये'त्यादिवाक्यैश्च भजनमेव स्वधर्मः । किञ्च; 'त्रैवर्गिके'तिवाक्येन यस्मिन् महाननुग्रहस्तस्मिंल्लौकिकांशत्याजनार्थं त्रिवर्गविघातं स्वयमेव भगवान्करोति । मोक्षस्तु भक्तानामेव नापेक्षितो 'दीयमानमि'तिवाक्यात् । तथा च भक्तिमार्गे कः पुरुषार्थ इत्यपेक्षायां 'हरेर्दास्यं धर्मोर्थो हरिरेव हि । कामो हरेर्दिदृक्षैव मोक्षः कृष्णस्य चेद्ध्रुव'मिति श्रीमदस्मत्प्रभुचरणै'रहं हरे तव पादैकमूल-दासानुदास' इत्यस्य व्याख्यायां निरूपितमिति जीवमात्रस्य भगवद्भजनमेव स्वधर्मः ॥ १ ॥

नान्यः इस शब्द की व्याख्या करते हैं। **क्वापि** अर्थात् कहीं भी, कभी भी अन्य धर्म नहीं है। एवं दूसरी बात, जिसे भगवान स्वीयरूप से अनुग्रहीत करते हैं ''जिसे ही यह परमात्मा (कठो.१/२/२३)'' इस श्रुति से एवं ''अनन्य-भक्ति से (भ.गी.११/५४)'' इत्यादि वाक्यों द्वारा उनका भजन ही स्वधर्म है। और 'त्रैवर्गिक (श्री.भा.६/११/२३)'' इस वाक्य से जिस पर प्रभु महान अनुग्रह करते हैं, उसके लौकिक-अंश छुडाने के लिए त्रिवर्ग का विघात स्वयं भगवान ही करते हैं। मोक्ष तो ''देने पर भी(श्री.भा. ३/२९/१३)'' इस वाक्य से भक्तों को अपेक्षित ही नहीं होता। एवं भक्तिमार्ग में पुरुषार्थ क्या है? यह अपेक्षा होने पर ''हरि की दासता 'धर्म' है, 'अर्थ' निश्चय हरि ही हैं, हरि की दिदृक्षा 'काम' है, एवं यदि कृष्ण के हैं तो मोक्ष निश्चित है (वृत्रा.चतु./४/श्रीमहाप्रभुकारिका) यह हमारे श्रीमद् प्रभुचरणों ने '' हे हरि! केवल आपके चरणों के दास का दास बनूँ (श्री.भा.६/११/२४)'' इस श्लोक की व्याख्या में निरुपित किया है अतः जीवमात्र का भगवद्-भजन ही स्वधर्म है ॥ १ ॥

ननु सर्वेषां भगवद्भजनमेव स्वधर्मश्चेत्तर्हि सर्वे भगवद्भजनमेव किमिति न कुर्वन्तीत्यपेक्षायामाहुः—एवमिति ।

एवं सदा स्म कर्तव्यं स्वयमेव करिष्यति ।
प्रभुः सर्वसमर्थो हि तेन निश्चिन्ततां व्रजेत् ॥ २ ॥

एवमनेन प्रकारेण स्त्रियः स्वपतिभजनवत्सदा निरन्तरं दैवजीवैः सद्भिर्यत्कर्त्तव्यं तदस्माभिरुक्तम् । दैवजीवानां सतां सत्पुरुषाणां सम्बन्धी कर्त्तव्यो यो भगवद्भजनरूपो धर्मः सोस्माभिरुक्तः । स्म इति प्रसिद्धिः । दैवजीवानामेवायं धर्मो, नत्वासुरजीवानाम् । आसुरावेशिनां तु व्यभिचारिणीनामिवान्यधर्मेष्वपि प्रवृत्तिः । दैवजीवानां तु गृहाश्रमिणां श्रौतस्मार्त्तादिकर्मानुष्ठाने वेदरूपभगवदाज्ञया देवतान्तरयजने क्रियमाणे भगवदङ्गत्वेन तद्विभूतित्वेन यागकरणस्योक्तत्वान्नानन्यत्वभङ्ग इति । तथा च 'अनन्याश्चिन्तयन्तो मामि'तिवाक्याद्योगक्षेमनिर्वाहकत्वं भगवत एवेति यद्धर्मादिभिरैहिकामुष्मिकफलादिकं तदनायासेन भगवान्स्वयमेव करिष्यति सम्पादयिष्यति । कुत इत्यपेक्षायामाहुः—प्रभुरिति । सर्वेषां ब्रह्मेन्द्ररुद्रादीनामपि प्रभुः स्वामी नियामकः सर्वसामर्थ्यविशिष्टः । सर्वैर्मिलित्वा यत्कर्त्तव्यं तत्स्वयमेव कर्त्तुं समर्थः । हीति प्रसिद्धिः, क्षीरोदमथने मन्दरानयने । तेन सर्वप्रकारेण देशकालद्रव्यकर्तृमन्त्रकर्माद्याग्रहं परित्यज्य चतुर्विधपुरुषार्थरूपो भगवानेवेति भगवदाश्रयेण भगवद्भजनमेव कुर्वाणो निश्चिन्ततां व्रजेत् । तेन दैवजीवैर्भगवदाश्रितैः कदापि कापि चिन्ता न कार्या । चिन्ताया आसुरधर्मत्वात् । सर्वं भगवानेव करिष्यतीति भावः ॥ २ ॥

यदि यहाँ शंका हो कि ''सबका भगवद्भजन ही स्वधर्म है तो सभी भगवद्भजन ही क्यों नहीं करते हैं? यह अपेक्षा होने पर **एवम्** इन शब्दों से कह रहे हैं।

एवम् अर्थात् इस प्रकार से स्त्रियों के स्वपतिभजन की भाँति निरंतर दैवीजीवों का अर्थात् सज्जनों का जो कर्तव्य है, वह हम कह रहे हैं। दैवीजीवों का अर्थात् सत्पुरुषों से संबंधित कर्तव्य जो भगवद्-भजनरुप धर्म है वह हमने कहा है। **स्म** शब्द प्रसिद्धि अर्थ में है। दैवीजीवों का ही यह धर्म है न कि आसुरी जीवों का। आसुरावेशियों की तो व्यभिचारिणीयों की भाँति अन्य धर्मों में भी प्रवृत्ति होती है। दैवीजीवों की तो, गृहाश्रमियों का श्रौतस्मार्तादि कर्म के अनुष्ठान में, वेदरूप भगवद्-आज्ञा से अन्य देवता का यजन करने में वह यजन भगवद्-अंग एवं उनकी विभूति होने से यज्ञ करना कहा होने से, अनन्यता-भंग नहीं होती। टीकाकार दैवीजीव एवं आसुरीजीवों में भेद बता रहे हैं। वे कहते हैं कि आसुरीजीवों की तो एक व्यभिचारिणी स्त्री की भाँति सभी धर्मों में प्रवृत्ति होती है किंतु दैवीजीव भगवद्-आज्ञा होने से यदि श्रौतस्मार्तादि कर्मकांड करें भी एवं यदि उसके कर्मांगत्वेन अन्य देवता का यजन आ भी जाता हो तो भी उनकी

पुष्टिप्रभु में अनन्यता भंग नहीं होती, क्योंकि वे अन्य देवताओं को भगवान की विभूति एवं उस यज्ञकर्म को भी भगवद्-आज्ञा मानकर करते हैं, स्वतंत्रबुद्धि से नहीं, यह अर्थ है। एवं "अनन्य भाव से चिंतन करते हुए (भ.गी.९/२२) " इस वाक्य से योगक्षेम की निर्वाहकता भगवान में ही है अतः जो धर्मादि से ऐहिक-पारलौकिक फल हैं, वह बिना प्रयास के भगवान **स्वयमेव करिष्यति** अर्थात् संपादित करेंगे। क्यों? यह अपेक्षा होने पर **प्रभुः** इन शब्दों से कह रहे हैं। सभी के, ब्रह्मा-इंद्र-रुद्र के भी प्रभु स्वामी अर्थात् नियामक अर्थात् सर्वसामर्थ्यविशिष्ट हैं, सभी मिलकर जो करते हैं वह स्वयं ही करने में समर्थ हैं। 'हि' शब्द प्रसिद्धि-अर्थ में है। क्षीरसागर मंथन में एवं मंदराचल लाने में जिस प्रकार समर्थ हुए। मंदलाचलपर्वत एवं क्षीरसागरमंथन के प्रसंग को विशेष समझने के लिए श्रीमद्-भागवत में ८/६/३४, ३५, ३६, ३७, ३८ एवं ८/७/६, ७, ८ इत्यादि श्लोक देखें। **तेन** अर्थात् सर्वप्रकार से देश-काल-द्रव्य-कर्तृ-मंत्र-कर्म आदि का आग्रह परित्याग कर 'चतुर्विधपुरुषार्थरुप भगवान ही हैं" इस भगवदाश्रय से भगवद्-भजन ही करते हुए निश्चिंत हो जाना चाहिए। इससे, दैवीजीवों को अर्थात् भगवदाश्रितों को कदापि, कोई भी चिंता नहीं करनी चाहिए। चिंता, आसुरी धर्म होने से। सब भगवान ही करेंगे, यह भाव है ॥ २ ॥

ननु लौकिकवैदिकधर्माद्याश्रयपरित्यागेन भगवद्भजने क्रियमाणे कदाचिद्भगवानप्येतन्मनोरथं न कुर्यात्तदा किं भविष्यतीत्यपेक्षायामाहुः-यदीति ।

यदि श्रीगोकुलाधीशो धृतः सर्वात्मना हृदि ।
ततः किमपरं ब्रूहि लौकिकैर्वैदिकैरपि ॥ ३ ॥

यदि कदाचिच्छ्रीगोकुलस्यानन्यशरणस्यानन्यगतिकस्य 'तस्मान्मच्छरणं गोष्ठं मन्नाथं मत्परिग्रह'मित्येवं भगवता श्रीनन्दनन्दनेनाङ्गीकृतस्य निस्साधनस्याधीशोधिपतिः स्वामी रक्षकः फलात्मा पालकश्च, सर्वात्मना कायवाङ्मनसा सर्वात्मभावेन वा हृदये धृतो धारितः । येषां भगवन्तं विहाय दारागारसुतधनादिकं किमपि प्रियं नास्त्येव सर्वस्वरूपेण भगवानेव येषामस्ति, भगवदर्थमेव यैः सर्वं त्यक्तं, येषां प्राणादयोपि भगवदर्थमेव प्रिया नात्मार्थम् । यदीतिपदादेतादृश्यवस्था दुर्लभेति सूचितम् । भगवद्वरणातिरिक्तसाधनासाध्येति भावः । गोकुलाधीश इतिपदेन यथा श्रीगोकुले भक्तवश्यत्वेन भगवता स्थीयते तथैतस्यापि वशे भूत्वा भगवान् वर्तत इति द्योतितम् । अत एव 'एवं सन्दर्शिता ह्यङ्ग हरिणा भक्तवश्यता । स्ववशेनापि कृष्णेन यस्येदं सेश्वरं वशे', 'नायं सुखापो भगवान्देहिनां गोपिकासुतः । ज्ञानिनां चात्मभूतानां यथा भक्तिमतामिहेति ।

यहाँ शंका करते हैं कि लौकिकवैदिक धर्मादि आश्रय के परित्यागपूर्वक भगवद्भजन करने पर कदाचित् भगवान भी यह मनोरथ पूर्ण न करें तब क्या होगा? यह अपेक्षा होने पर **यदि** इन शब्दों से कह रहे हैं।

यदि अर्थात् कदाचित् श्रीगोकुल के अर्थात् अनन्यशरणागत के अर्थात् अनन्यगतिवालों के "अतः मेरे आश्रित हैं, मेरे द्वारा स्वीकृत हैं एवं मैं ही रक्षक हूँ (श्री.भा.१०/२५/१८)" इस श्लोकानुसार भगवान श्री नंदनंदन द्वारा अंगीकृत के अर्थात् निःसाधन के **अधीशः** अर्थात् अधिपति-स्वामी-रक्षक-फलात्मा एवं पालक, **सर्वात्मना** अर्थात् काया-वाणी मन अथवा सर्वात्मभाव से हृदय में **धृतः** अर्थात् धारण कर लिए है; जिनको, भगवान को छोड़कर पत्नी-गृह-पुत्र-धनादि कुछ भी प्रिय नहीं ही हैं, जिनके सर्वस्व-रूप भगवान ही हैं, जिन्होंने भगवान के लिए सब त्याग दिया है, जिनको प्राण-आदि भी भगवान के लिए ही प्रिय हैं, स्वयं के लिए नहीं; **यदि** इस पद से ऐसी अवस्था दुर्लभ है, यह सूचित किया है। वह अवस्था भगवद्वरण से अतिरिक्त साधनों से असाध्य है, यह भाव है; **गोकुलाधीश** इस पद से जिस प्रकार श्रीगोकुल में भक्तवश होकर भगवान रहते हैं उसी प्रकार ऐसे अनन्य-भक्त के भी वश में होकर भगवान हैं, यह द्योतित किया है। अतएव, "इस प्रकार, संपूर्ण जगत इनके वश में होते हुए भी बँधकर हरि ने भक्तवश्यता दिखा दी (श्री.भा. १०/९/१९)", "यह गोपिकानंदन अनन्यभक्तों के लिए जितने सुलभ हैं उतने कर्मकांडी एवं स्वस्वरूपभूत ज्ञानियों को भी नहीं है (श्री.भा. १०/९/२१)" यह वाक्य हैं।

नन्वेवं भगवति हृदि विद्यमाने गृहस्थानां धनाद्यभावाल्लौकिकवैदिककार्यादेः कथं निर्वाह इत्यपेक्षायामाहुः – तत इति । यदा श्रीभगवानेव सर्वसामर्थ्यविशिष्टो हृदये स्थितस्तदा लौकिकैर्व्यवहारादिकर्मभिर्वैदिकैराश्रमवर्णादिविहितैः कर्मभिर्यागदानादिभिश्चैतस्य किं फलमन्यत् ? न किञ्चिदपीत्यर्थः । सर्वस्यैव ब्रह्मलोकपर्यन्तस्यापि फल'स्याब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोर्जुने'तिवाक्यान्नश्वरत्वमेवेति न किञ्चिदित्यर्थः । ततस्तस्मादपरं किं फलमिति त्वमेव ब्रूह्यतो येषां सर्वभावेन भगवानेव हृदि स्थितस्तेषामैहिकं पारलौकिकं सर्वं भगवानेव करोति 'तेषामहं समुद्धर्त्ते'तिवाक्यात् । 'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामी'ति वाक्याच्च ॥ ३ ॥

यहाँ शंका करते हैं, कि भगवान जब हृदय में विद्यमान हो जाते हैं तब यदि गृहस्थों को धनादि का अभाव हो, तो उनके

लौकिकवैदिक आदि कार्यों का निर्वाह कैसे होगा? यह अपेक्षा होने पर **ततः** इन शब्दों से कह रहे हैं। जब सर्वसामर्थ्यविशिष्ट भगवान ही हृदय में स्थित हैं तब **लौकिकैः** अर्थात् व्यवहारादि कर्म द्वारा **वैदिकैः** अर्थात् आश्रमवर्णादि विहित कर्मयज्ञदानादि द्वारा, इस प्रभु को हृदय में स्थापित करने के अतिरिक्त दूसरा क्या फल होगा? कुछ भी नहीं, यह अर्थ है। सभी का ही अर्थात् ब्रह्मलोकपर्यन्त का भी फल "हे अर्जुन ! ब्रह्मलोक से लेकर संपूर्ण लोक पुनरावर्ती हैं (भ.गी. ८/१६)" इस वाक्य से नश्वर ही हैं, अतः दूसरा फल कुछ भी नहीं है, यह अर्थ है। **ततः** अर्थात् अतएव, दूसरा फल क्या है? यह तुम ही कहो क्योंकि जिनके हृदय में सर्वभाव से भगवान ही स्थित हैं, उनके लौकिक-पारलौकिक सर्व कार्य भगवान ही करते हैं, "उनका मैं भलीभाँति उद्धार करनेवाला (भ.गी. १२/७)" इस वाक्य से। एवं "मैं तुम्हें सभी पापों से मुक्त कर दूँगा, शोक मत कर (भ.गी. १८/६६)" इस वाक्य से ॥ ३ ॥

ननु तर्हि जीवैः सदा किं कर्त्तव्यमित्यपेक्षायामाहुः – अत इति ।

अतः सर्वात्मना शश्वद्गोकुलेश्वरपादयोः ।
स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यमिति मे मतिः ॥ ४ ॥

यतः कर्मयोगज्ञानादिसाध्यं फलं तद्भक्तेरानुषङ्गिकमतः सर्वात्मना सर्वप्रकारेण **शश्वन्निरन्तरं गोकुलेश्वरस्य निस्साधनफलात्मनो भक्तवश्यस्य परब्रह्मणो रसात्मकस्य भगवतः पादयोश्चरणारविन्दयोः स्मरणं भजनं चकाराच्छ्रवणं कीर्तनं कदापि न त्याज्यम् । स्नेहाभावेपि मनोधर्मत्वात्स्मरणस्य मुख्यतया स्मरणमेवोक्तम् । अतएव 'तस्माद्भारत सर्वात्मे'त्यस्य व्याख्याने श्रवणकीर्तनस्मरणानामेवोक्तौ कथं नवधा भक्तिर्नोक्तेति स्वयमेवाशङ्क्य समाहितम् । पादसेवनादारभ्यात्मनिवेदनपर्यन्तानां षण्णां प्रेमोत्तरभावित्वान्मुख्यतया श्रवणकीर्तनस्मरणमेवाभिहितम् । तस्मादहर्निशं स्मरणं कर्त्तव्यं लीलाविशिष्टस्य । रासादिलीला अपि सर्वाश्चिन्तनीया भावाविष्टतया । तथैव भजनं सेवनं कर्त्तव्यं, कदापि न त्याज्यम् । 'कृष्णसेवा सदा कार्ये'तिवाक्ये मानस्या एव फलरूपत्वमुक्तम् । अत एव सेवालक्षणं चेतसो भगवत्प्रवणत्वम् । भगवत्प्रवणचित्तसिद्ध्यर्थं तनुवित्तजाकरणम् । तेन सेवाकरणेन संसारदुःखनिवृत्तिपूर्वकब्रह्मज्ञानावाप्तिरवान्तरफलम् । परमफलं तु यथाधिकारतो भगवदनुग्रहेण नित्यलीलाप्राप्तिरेवेति मे मम मतिरिति ।**

श्रीमदाचार्यकृपया व्याख्या सर्वार्थबोधिका ।
मया कृता चतुःश्लोक्याः कृष्णरायाभिधेन हि ॥ १ ॥
तुष्यतां तेन भगवांश्छ्रीमदाचार्यवल्लभः ।
दासे निस्साधने दीने कृष्णराये दयानिधिः ॥ २ ॥
इति श्रीमद्वल्लभदेवविरचितायाश्चतुःश्लोक्याः कृष्णरायभट्टविरचिता
सर्वार्थबोधिका व्याख्या
सम्पूर्णा ।

शंका करते हैं कि "तो जीव को सदा क्या करना चाहिए? यह अपेक्षा होने पर **अतः** इन शब्दों से कह रहे हैं।

क्योंकि कर्मयोगज्ञानादि से साध्य फल भक्ति का गौण फल है अतः **सर्वात्मना** अर्थात् सभी प्रकार से **शश्वत्** अर्थात् निरंतर गोकुलेश्वर के, निःसाधन के फलात्मा के, भक्तवश्य के, परब्रह्म के, रसात्मक भगवान के **पादयोः** अर्थात् चरणारविंदों का स्मरण-भजन, 'च' शब्द से श्रवण-कीर्तन कभी भी त्यागने नहीं चाहिए। स्नेह का अभाव होने पर भी मनोधर्म के कारण स्मरण मुख्य होने से स्मरण ही कहा है। यहाँ समझना चाहिए कि 'श्रवण-कीर्तन-स्मरण' में श्रवण कर्णों का धर्म है, कीर्तन वाणी का एवं स्मरण मन का धर्म है। स्नेह भी मन का ही धर्म है। टीकाकार यहाँ कहना चाह रहे हैं कि चूँकि स्नेह एवं स्मरण दोनों मन के ही धर्म हैं अतः प्रारंभिक दशा में भगवान के प्रति स्नेह का अभाव होने पर भी निरंतर स्मरण करते रहने से स्नेह भी उत्पन्न हो जाएगा अतः स्मरण मुख्य है, यह अर्थ है। अतएव "इसलिए हे भारत ! सर्वात्मा (श्री.भा. २/१/५)" इस श्लोक के व्याख्यान में श्रीमहाप्रभुजीने "केवल श्रवणकीर्तन ही कहा, किंतु संपूर्ण नवधाभक्ति न कही" यह शंका स्वयं ही समाहित कर दी है एवं तत्पश्चात उसका निवारण भी कर दिया है। टीकाकार कह रहे हैं कि उपर्युक्त श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कंध के इस श्लोक में संपूर्ण नवधाभक्ति का उपदेश न करके केवल प्रारंभिक तीन भक्ति श्रवण, कीर्तन, स्मरण का ही उपदेश किया गया है। वे कहते हैं कि श्रीमहाप्रभु ने अपने इस श्लोक के व्याख्यान में यह शंका उठाई है एवं तत्पश्चात् चूँकि आरंभिक दशा में ये तीन ही मुख्य हैं अतः इनका ही उपदेश किया है यह बता कर उस शंका का समाधान भी स्वयं ही कर दिया है। विशेष जिज्ञासा के लिए उक्त श्लोक की सुबोधिनी देखें। पादसेवन से आरंभ कर आत्मनिवेदनपर्यंत छह भक्ति प्रेम के पश्चात् होने से मुख्यतया श्रवणकीर्तनस्मरण ही कहे हैं। अतः लीलाविशिष्ट प्रभु का अहर्निश स्मरण करना चाहिए। भावाविष्ट होकर सर्व रासलीला भी

चिंतनीय है। उसी प्रकार **भजनं** अर्थात् सेवा करनी चाहिए, कदापि त्यागनी नहीं चाहिए। ''कृष्ण सेवा सदा करनी चाहिए (सि.मु./१)'' इस वाक्य में मानसी को ही फलरूप कहा है। अतएव ''चित्त द्वारा भगवान में प्रवणता'' यह सेवा का लक्षण है। भगवत्प्रवण-चित्त की सिद्धि के लिए तनुवित्तजा करनी चाहिए। इससे, सेवा करने के द्वारा 'संसारदुःख की निवृत्तिपूर्वक ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति' यह गौण फल है। परमफल तो यथाधिकार भगवान के अनुग्रह से नित्यलीला की प्राप्ति ही है **इति मे** अर्थात् यह मेरी मति है।

'कृष्णराय' नामक मेरे द्वारा, निश्चय ही श्रीमदाचार्यकृपा से 'चतुःश्लोकी' की सर्वार्थबोधिका-व्याख्या की गई ॥ १ ॥

इससे दयानिधि-भगवान श्रीमदाचार्यवल्लभ
मुझ दीन, निःसाधनदास पर प्रसन्न हों ॥ २ ॥

यह, श्रीमद्वल्लभदेवविरचित चतुःश्लोकी की, कृष्णरायभट्ट
विरचित ''सर्वार्थबोधिका' व्याख्या संपूर्ण हुई।

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

चतुःश्लोकी ।

मठेशश्रीनाथभट्टकृतटीकया संवलिता

श्रीवल्लभाभिधानौमि तान् स्वशास्त्रार्थतो मुदा ।
उपदिष्टा चतुःश्लोकी स्वीयेभ्यो यैः समासतः ॥ १ ॥

अथ श्रीवल्लभाचार्यचरणाः स्वीयजनानां सुग्रहार्थं समासतः स्वात्मधर्ममनुशिक्षयन्तश्चतुःश्लोक्या सर्वशास्त्रार्थं निरूपयन्ति सर्वदा सर्वभावेन भजनीय इति ।

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः ।
स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः क्वापि कदाचन ॥ १ ॥

परमेश्वरो देवः सेव्य इति सर्वशास्त्रार्थः । स च केषाञ्चिन्मते निराकारः, केषाञ्चिन्मते साकार उपास्यः । तत्र निराकारस्तु नोपपद्यत एव । तथा हि, किमाकारो देह आत्मा वेति विचारणीयम् । तत्र देहस्तु पाञ्चभौतिकः प्राकृतः स नोपपद्यत एव, 'देहेन्द्रियासुहीनाना'मितिवाक्यात्तदीयानां पार्षदानां यत्र तथात्वं तत्र तन्मूलस्वामिनः परस्य ब्रह्मणः पुरुषोत्तमस्य तथात्वे किमु वाच्यमिति कैमुतिकन्यायः । अत एव आत्मैव परः स तथाभूतो दिव्यः स्वीकार्यः ।

स्वीयों के लिए, जिन 'वल्लभ' नाम वाले श्रीमहाप्रभु ने संक्षेपतः स्वशास्त्रार्थ से
'चतुःश्लोकी' उपदिष्ट की है, उन्हें प्रसन्नतापूर्वक नमन करता हूँ॥१॥

अथ श्रीवल्लभाचार्यचरण, स्वीयजनों को भलीभाँति अर्थग्रहण करने के लिए संक्षेपतया स्वयं का आत्मधर्म अर्थात् पुष्टिमार्ग शिक्षित करते हुए 'चतुःश्लोकी' द्वारा सभी शास्त्रों का अर्थ **सर्वदा सर्वभावेन भजनीय** इन शब्दों से निरूपित कर रहे हैं।

'परमेश्वर-देव सेव्य हैं', यह सभी शास्त्रों का अर्थ है। एवं वह किसी के मत में निराकार है, किसी के मत में साकार रुप से उपास्य है। वहाँ निराकार तो उपपादित ही नहीं कर रहे हैं। चूँकि श्रीमहाप्रभु का मत तो साकारब्रह्म है अतः यहाँ निराकार की चर्चा करनी व्यर्थ ही है अथवा साकारब्रह्म की चर्चा करने में पूर्वपक्षी का निराकारमत तो स्वतः ही आ जायेगा, इस कारण साकार की ही चर्चा की जा रही है, यह अर्थ है। वह इस प्रकार कि देह अथवा आत्मा का आकार क्या है? यह विचारणीय है। वहाँ देह तो पाञ्चभौतिक है जो पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवं आकाश इन पंचमहाभूतों से निर्मित हुआ हो उसे पांचभौतिक कहते हैं। उसे ही प्राकृत कहते हैं। अर्थात् प्राकृत है, वह उपपादित ही नहीं कर रहे हैं, 'देह-इंद्रियों से रहित वैकुंठ-वासीयों का (श्री.भा.७/१/३४)' इस वाक्य से तदीय अर्थात् पार्षदों को जहाँ वैसा अर्थात् निराकार कहा है, वहाँ उसके मूल स्वामी, परब्रह्म, पूर्णपुरुषोत्तम के निराकार होने में क्या कहना ? यह कैमुतिकन्याय सूचित होता है। भगवान के पार्षद अर्थात् भगवान के परिषद में जो हैं अथवा भगवान के परिकर में जो हैं वे। श्रीमद्-भागवत की उपर्युक्त पंक्तियों से ज्ञात होता है कि भगवान के पार्षदों की भी पाञ्चभौतिक या प्राकृत देह नहीं है। वे भी निराकार हैं अर्थात् लौकिक आकार से रहित हैं। टीकाकार कह रहे हैं कि जहाँ भगवान के पार्षद निराकार हैं वहाँ भगवान तो निराकार ही होंगे इसमें क्या कहना? यह अर्थ है। कैमुतिक न्याय को समझें। जहाँ किसी छोटी वस्तु से ही कार्य सिद्ध हो रहा हो वहाँ बड़ी वस्तु से तो कार्य सिद्ध होना ही है, इसमें क्या कहना, ऐसी परिस्थिति जहाँ उपस्थित हो रही है वहाँ 'कैमुतिकन्याय' प्रयुक्त होता है। एक उदा. से समझें। जैसे कहा जाय कि "अपिचेत्सुदुराचारो (भ.गी.९/३०)" इस वाक्यानुसार भगवान यदि दुराचारियों पर भी कृपा करते हैं तो उनकी अनन्य भक्ति करने वालों का तो कहना ही क्या? यहाँ कैमुतिकन्याय प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार टीकाकार कैमुतिकन्याय से यहाँ यह कहना चाह रहे हैं, कि यदि भगवान के पार्षद भी निराकार हैं तो स्वयं भगवान तो होंगे ही, यह अर्थ है। अतएव परमात्मा ही 'पर' है, वह वैसा निराकार दिव्य है, यह स्वीकार्य होता है।

न च दिव्यपदवाच्यो देह एव तत्राकारः स्वीकार्य इति वाच्यं, देहदेहिविभागाभावात् । 'स यथा सैन्धवघन आभ्यन्तरो बाह्यः

कृत्स्नो रसघन', एवं 'वाऽरेऽयमात्मे' त्यादिश्रुतिभिरप्राकृतत्वाच्च । दिव्यपदेन 'दिवि भवो दिव्य' इतिव्युत्पत्त्याग्रहश्चेत्तदा देवानामिव तथादेहस्य प्राकृतत्वापत्तिः, देवेष्वप्रपञ्चीकृततत्त्वस्यैव दिव्यपदवाच्यत्वस्वीकारात् । यत्तु 'जन्म कर्म च मे दिव्यमि'त्युक्तं तदप्यप्राकृतत्वाभिप्रायेण, दिव्यपदस्य रूढार्थकत्वस्वीकारात् । अत एव 'देहेन्द्रियासुहीनानामि'त्यत्र तन्निषेधः । न च तत्र सामान्योक्त्या निषेध एव देहादेरापद्यत इति वाच्यम्, पुनस्तत्कथनात्, 'वैकुण्ठपुरवासिनां पश्यतां कुर्वतां गानमि'त्यनुपदमेव तताकारत्वेन निरूपणात्, तेन प्राकृताकारस्य निषेधस्तत्र पर्यवस्यति, न त्वप्राकृताकारस्य । प्राकृतभौतिकादिकाकारत्वं न तथा भगवतीतिबोध्यम् । अत एवोक्तं 'साकारब्रह्मवादैकस्थापको वेदपारग'इति स्वाचार्यैनाम सर्वोत्तमे । तत्रैकशब्दो मुख्यार्थवाची । साकारत्वमुक्त्वा यद्ब्रह्मत्वं निरूपितं, तद्यथा ब्रह्म केवलं सच्चिदानन्दमयं तथा तत्करचरणादीनामपि केवलसच्चिदानन्दमयत्वं ज्ञापितम् । साकारत्वकथनेन पुष्टिमार्गीयफलस्य तत्स्वरूपस्य सर्वेन्द्रियास्वाद्यत्वं, फलानुभवप्रकार उक्तः ।

एवं, दिव्यपदवाची-देह ही वहाँ भगवान का आकार स्वीकृत है, ऐसा नहीं कहना चाहिए, भगवान में देह-देही विभाग का अभाव होने से। यहाँ चर्चा आकार एवं निराकार की चल रही है। टीकाकार कह रहे हैं कि जिस प्रकार परमात्मा को दिव्य आकार का कहा है तो क्या वह दिव्यता ही भगवान का आकार है? यह प्रश्न होता है। टीकाकार कह रहे हैं, नहीं। क्योंकि भगवान में देह (शरीर) देहि (आत्मा) के विभाग नहीं हैं अपितु वह तो सर्वांश में समतुल्य हैं, यह अर्थ है। ''वह, जिस प्रकार नमक का टुकड़ा अंदर-बाहर से संपूर्ण रसघन होता है (बृ./४/५/१३)'' एवं ''यह आत्मा'' इत्यादि श्रुति द्वारा अप्राकृत होने से। 'दिव्य' पद 'स्वर्ग में (पैदा) हुआ 'दिव्य' है' इस व्युत्पत्ति का यदि आग्रह हो तब देवों की भाँति उस प्रभु के देह में प्राकृतत्व की आपत्ति होती है, देवों में अप्रपञ्चीकृत तत्व को ही 'दिव्य' पदवाची स्वीकार किया होने से। 'दिवि' का अर्थ होता हैं 'स्वर्ग' एवं दिवि में जिसमें जन्म लिया वह 'दिव्य' कहलाता है। टीकाकार कह रहे हैं कि 'दिव्य' पद का यह अर्थ मान लें तब भगवान में भी प्राकृतत्व मानने की आपत्ति आ खड़ी होगी क्योंकि स्वयं देवों में भी संपूर्ण अंश में तो दिव्यता नहीं है। जितने अंश में उनमें अप्रपञ्चीकृत तत्व है अर्थात् जो प्रकृति द्वारा रचित तत्व नहीं है वह है, उतने ही अंशों में देवों को दिव्य कहा जा सकता है, सर्वांश में नहीं। यहाँ यह जान लेना ठीक रहेगा कि कौन-कौन से मुद्दे ऐसे हैं कि जितने अंश में देव प्रपञ्चीकृत हैं एवं अप्रपञ्चीकृत हैं? अप्रपञ्चीकृत मुद्दों में ''देवों को क्षुत्पिपासा नहीं होती'', 'उनकी देह पांचभौतिक नहीं होती'', देवता भूमि का स्पर्श नहीं करते,'' देवताओं के पलकादि नहीं होते (न हि देवाः भुवं स्पृशन्ति न हि देवाः पक्ष्मकृता भवन्ति' इत्यादि श्रुत्यनुसार) एवं गोपीगीत में ''जड़ उदीक्षतां पक्ष्मकृतदृशां'' इस पंक्ति की सुबोधिनी में भी श्रीमहाप्रभु ने देवों को पलकरहित बताया ही है। देव कुछ अंशों में प्रपञ्चीकृत अर्थात् प्राकृत भी होते हैं। जैसे देव अविनाशी नहीं होते, वे असुरों द्वारा मार भी दिए जाते हैं। देव सत्वरजतमादि गुणों सहित भी होते हैं इत्यादि। अतः यह सिद्ध हुआ कि देव संपूर्ण अर्थ में अप्रपञ्चीकृत नहीं है अपितु उतने ही अर्थ में हैं जितने अंश में उनमें अप्राकृतत्व है। किंतु भगवान के साथ यह समस्या नहीं है, वे सर्वांश में दिव्य हैं। जैसे उपर कही सैंधवघन श्रुतिवाले उदाहरण में बताया गया कि वह नमक का टुकडा अंदर/बाहर सभी ओर से एक जैसा होता है, वैसे भगवान भी सभी प्रकार से दिव्य हैं। यदि 'दिवि भवो दिव्य' वाली व्युत्पत्ति मान ली जाय तो फिर देवताओं की भाँति भगवान में भी आंशिक रुप से प्राकृतत्व मान लेने की आपत्ति आ खड़ी होगी, यह टीकाकार कहना चाह रहे हैं। जहाँ तो, ''मेरा आविर्भाव एवं कर्म दिव्य है (भ.गी.४/९)'' यह कहा है, वह भी अप्राकृतत्व के अभिप्राय से 'दिव्य' पद का रुढ़ार्थ स्वीकारा होने से भगवद्-गीता के चौथे अध्याय के इस श्लोक में भगवान की दिव्यता संपूर्णरुप से बताई गई है अर्थात् रूढ़ अर्थ में बताई गई है। वहाँ इस वाक्य का अभिप्राय यह है कि प्रभु किसी भी प्रकार से प्राकृत नहीं है। अतएव ''देह-इंद्रियों से रहितों का (श्री.भा.७/१/३४)'' इस वाक्य में उस प्राकृत देह का निषेध है। एवं वहाँ सामान्यतया कहने से देहादि में ही निषेध आपतित होता है यह नहीं कहना चाहिए उपर कहे श्रीमद्-भागवत के सातवें स्कंध के इस श्लोक को देखने से ज्ञात होगा कि यहाँ भगवान के वैकुण्ठ में निवास करने वालों की देह प्राकृत नहीं है किंतु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि उनकी कोई देह ही नहीं है, वश्य है किंतु अप्राकृत है अन्यथा यहाँ आगे आनेवाले श्लोक में उनके देखने, करने, गाने आदि की क्रियाओं का वर्णन न हुआ होता, यह टीकाकार कहना चाह रहे हैं। पुनः वह कहने से ''वैकुंठपुरवासियों के देखने, करने, गाने सें'' इन आनेवाले पद में ही वैसे आकाररूप से निरूपण होने से, इससे प्राकृत आकार का निषेध वहाँ पर्यवसित होता है न कि अप्राकृत आकार का। वैसा प्राकृत-भौतिकादि आकार भगवान में नहीं है, यह समझना चाहिए। अतएव सर्वोत्तम में हमारे आचार्य का ''एक साकारब्रह्म के स्थापक वेदपारंगत (८)'' यह नाम कहा है। वहाँ 'एक' शब्द मुख्य अर्थ का वाचक है। टीकाकार सर्वोत्तमस्तोत्र के इस नाम में 'एक' शब्द को मुख्य बता रहे हैं। वे कहते हैं, कि 'एक' शब्द, 'केवल एक श्रीमहाप्रभुजी ही साकारब्रह्म के स्थापक हैं, अन्य कोई नहीं,' यह द्योतित कर रहा है। 'साकार' कह कर जो ब्रह्म का निरूपण किया वह जिस प्रकार ब्रह्म केवल सच्चिदानंद है उस प्रकार उसके हस्त-चरणादि का भी केवल सच्चिदानंदमयत्व बताया है। साकार के कथन से पुष्टिमार्गीय फल का, उसके स्वरूप का सभी इंद्रिय द्वारा आस्वादन करनेयोग्य फलानुभव का प्रकार कहा है।

नन्वियदवधि सर्वशास्त्रार्थविचारकैरपि परब्रह्मणः साकारत्वनिरूपणात् कथमाचार्याणामेव साकारत्वनिरूपकत्वमिति चेत्, उच्यते । ब्रह्मणोऽत्यलौकिकत्वाच्चक्षुरादीनां लौकिकप्रमाणत्वान्न चक्षुरादिगम्यत्वं ब्रह्मणि, किन्तु स्वेच्छया संभवतीति श्रुतीनामलौकिकमानत्वेन श्रुतय एव परब्रह्मणि प्रमाणमिति तत्प्रतिपाद्यमेव ब्रह्म । तास्तु 'स ईक्षाञ्चक्रे' 'तस्मादेकाकी न रमते' 'स द्वितीयमैच्छत्' 'स हैतावानासे'ति साकारमेव निरूपयन्ति । गीता च 'सर्वतः पाणिपादान्तं सर्वतोक्षिशिरोमुखमि'त्यादि साकारत्वमेव वदति ।

शंका करते हैं कि यहाँ तक सभी शास्त्रार्थविचारकों द्वारा भी परब्रह्म का साकारत्व निरूपण होने से क्यों केवल आचार्यचरणों के ही साकार के निरूपण में क्या हेतु है? शंका यहाँ यह उठ रही है कि श्रीमहाप्रभु से पहले अन्य शास्त्रविचारकों ने भी ब्रह्म को साकार बताया ही है एवं साकारवादी श्रुतियाँ भी तो उपलब्ध ही हैं फिर केवल श्रीमहाप्रभुजी ही 'साकारब्रह्मवाद' के स्थापक कैसे हो गये? यह अर्थ है। जानना चाहिए कि केवल शंकराचार्य जी को छोड़कर शेष रामानुजाचार्य, निंबार्काचार्य, मध्वाचार्यादि वैष्णवाचार्यों ने भी ब्रह्म को साकार ही बतलाया है। कह रहे हैं। ब्रह्म के अति-अलौकिक होने से, एवं चक्षु-आदि के लौकिक-प्रमाण होने से ब्रह्म में चक्षु-आदि का गमन नहीं होता किंतु स्वेच्छा से अर्थात् स्वयं भगवान की इच्छा से संभव होता है अतः श्रुतियों के अलौकिक प्रमाण होने से श्रुति ही परब्रह्म में प्रमाण है अतः उसके द्वारा प्रतिपादित ही ब्रह्म है। वे श्रुतियाँ तो ''उसने विचार किया (प्र. ६/३)'' अतः अकेले रमण नहीं करता, वह दूसरे की इच्छा करता है। वह इतना ही था (बृ. उप.१/४/३)'' इन वचनों से साकार ही निरूपण कर रही हैं। एवं गीता 'सभी ओर हाथ-पैर, सभी ओर नेत्र, सिर, मुख (भ.गी.१३/१३)' इस वाक्य से साकार ही कह रही है।

ननु निराकारवादिभिरपि निराकारप्रतिपादने 'अस्थूलमनण्वहस्वमदीर्घमि'त्यादिश्रुतय एव प्रमाणत्वेनाङ्गीक्रियन्ते कथं न निराकारत्वमिति चेत्, उच्यते । निराकारत्वप्रतिपादका अपि श्रुतयो ब्रह्मणि देवाद्याकारवत् प्राकृताकारत्वमेव प्रतिषेधन्ति, नत्वानन्दमात्रकरपादमुखोदराद्याकारम् । यदि सर्वथा निराकारत्वमेव शुभं मतं स्यात्तदा निराकारत्वमुक्त्वापि अग्रे 'स ईक्षाञ्चक्रे' इत्यादिना साकारं न प्रतिपादयेयुः । अत एव व्याससूत्रमपि 'प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूय' इति । अस्याप्यर्थः, प्रकृतमेतावत्त्वं प्राकृतं साकारत्वं, तन्निषेधति निराकारश्रुतिः, न त्वानन्दैकाकारत्वं, तत्र हेतुः 'ततो ब्रवीति च भूय' इति । अस्याप्यर्थः ततोग्रे । पुनरपि 'स इक्षांचक्रे' 'अपाणिपादो जवनो गृहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्ण' इत्यादि साकारत्वमेव वदतीति निराकारवादिनां यत्किञ्चिच्छ्रुतिज्ञानवत्त्वेपि सर्वशाखीयोपनिषज्ज्ञानाभावात्तासु च प्रकारभेदतो ब्रह्मनिरूपणात्, तत्र परस्परविरोधपरिहारपूर्वकविषयव्यवस्थया यत्सिध्यति तादृग् ब्रह्म मन्तव्यम् । निराकारवादिनां सर्वशाखीयोपनिषत्तात्पर्यज्ञानाभावात्स्वबुध्यनुसारेण यत्किञ्चिच्छ्रुतितात्पर्यं स्वसिद्धान्तानुसारं कल्पयित्वा निराकारत्वकथनमिति न तदुक्तं प्रमाणम् स्वाचार्यैस्तु सर्वशाखोपनिषत्तात्पर्यस्य विरोधपरिहारेणावगमात्तत्र च साकारस्यैव निरूपणात् सर्वमवगत्यैव साकारत्वमुक्तमिति सिद्धं साकारत्वम् ।

शंका करते हैं कि निराकारवादियों द्वारा भी निराकार के प्रतिपादन में 'वह स्थूल नहीं, अणु नहीं, छोटा नहीं, बड़ा नहीं (बृ.३/८/८)' इत्यादी श्रुतियाँ ही प्रमाणरूप से स्वीकारी जाती हैं अतः प्रभु में निराकारत्व ही क्यों न मान लिया जाय? टीकाकार सुंदर बात कह रहे हैं। वे कहते हैं कि यदि ब्रह्म की साकारता सिद्ध करने में यदि उपर्युक्त श्रुतियों को प्रमाण माना जा रहा है तो श्रुतियाँ तो निराकारवादी भी हैं। निराकारवादी भी निराकारता सिद्ध करने के लिए श्रुतियों को ही प्रमाण मान रहे हैं तो फिर यहाँ प्रश्न यह उठेगा कि श्रुति जब दोनों बातें कह रहीं है तब युक्त केवल साकारता को ही क्यों माना जाय? निराकारता को क्यों नहीं? कह रहे हैं। निराकार का प्रतिपादन करने वाली श्रुति भी ब्रह्म में देवादि की भाँति प्राकृत-आकार का ही निषेध कर रही हैं न कि आनंदमात्र-हस्त-पाद मुखोदरादि आकार का। यदि सर्वथा निराकारत्व ही उचित मत होता तब निराकार कह कर भी आगे ''उसने विचार किया (प्र. ६/३)'' इत्यादि वचन से साकार प्रतिपादन न होता। टीकाकार उपर उठी शंका का समाधान कर रहे हैं। वे कह रहे हैं कि जो भी निराकारवादी श्रुतियाँ हैं वे ब्रह्म को प्राकृत देह से रहित के अर्थ में निराकार कह रही हैं, यह जानना चाहिए। वे आगे और स्पष्ट कर रहे हैं, कि यदि ब्रह्म सर्वथा निराकार ही होता तो फिर वह देखता है' अतः एकाकी रमण नहीं करता' इत्यादि वाक्य श्रुति क्यों कहती? क्योंकि निराकार न तो देखेगा न रमण ही करेगा, यह अर्थ है। अतएव ''प्रकरण में ब्रह्म के लक्षणों का श्रुति निषेध करती है क्योंकि पश्चात् पुनः कहती भी है (ब्र.सू. ३/२/२२) यह व्याससूत्र भी हैं। इसका भी अर्थ है। प्रकृत एवं एतावत्वं अर्थात् प्राकृत-साकारत्व का निराकारश्रुति निषेध कर रही है न कि एक आनंदाकार का; वहाँ हेतु ''पश्चात् पुनः कहती भी है'' इस वाक्य में है। इसका भी अर्थ है, ततो अर्थात् आगे। पुनरपि (अर्थात्) ''उसने विचार किया (प्र.६/३)'' ''हाथ-पैरों से रहित गमन-ग्रहण करनेवाला, नेत्र बिना देखनेवाला; कर्णबिना सुननेवाला है (श्वे.३/१९)'' इत्यादि (वाक्यों से श्रुति) साकार ही कह रही है अतः निराकारवादियों के यत्किञ्चित् श्रुतिज्ञानवान होने पर भी सर्वशाखीय-उपनिषदोंके ज्ञान का अभाव होने से अर्थात् निराकारवादीयों की यत्किंचित् श्रुति का ज्ञान होने पर भी उपनिषदों का संपूर्ण ज्ञान नहीं है। एवं उनमें प्रकारभेद से ब्रह्मनिरूपण होने से अर्थात् वहाँ ब्रह्म को साकार, निराकार आदि अनेक प्रकार से सिद्ध किया गया है। इसलिए वहाँ श्रुतियों

के परस्पर विरोध के परिहारपूर्वक अर्थात् निराकर एवं साकार से उत्पन्न हुई कठिनाई को दूर करने के बाद विषयव्यवस्था द्वारा जो सिद्ध होता है वैसा **ब्रह्म मानना चाहिए।** अर्थात् निराकारवादियों को श्रुति का अल्पज्ञान ही है। अतः वे श्रुतियों में केवल उपरी तौर पर दिखाई देते विरोधास्पद वाक्यों में एकरूपता सिद्ध नहीं कर पाते जिससे भ्रांति होती है। वास्तव में तो इन विरोधस्पद बातों को दूर करने के बाद जो सिद्ध होता है वही ब्रह्म जानना चाहिए, यह अर्थ है। निराकारवादियों को सर्वशाखीय-उपनिषद् के तात्पर्यज्ञान का अभाव होने से स्वबुद्धि-अनुसार यत्किंञ्चित् श्रुतितात्पर्य स्वसिद्धांतानुसार कल्पना कर के निराकार का कथन है अतः उनका वह कथन प्रमाण नहीं है। स्वाचार्यों ने तो सर्वशाखीय-उपनिषद् के तात्पर्य के विरोध-परिहारपूर्वक से समझा होने से एवं वहाँ साकार ही निरूपित किया होने से, सभी समझ कर ही साकार कहा होने से, साकारत्व सिद्ध किया है।

स च साकारः परमेश्वरः को वा भजनीयः, शिवो विष्णुर्वा व्यूहात्मा वा नारायणो ब्रह्माण्डविग्रहो विश्वरूपादिर्वेत्याकाङ्क्षायामाहुः ब्रजाधिप इति । अनेन सर्वतो व्यावृत्त्यावतारदशापन्नेष्वपि भगवदंशेषु स्वरूपेषु भजनीयः श्रीकृष्णः पुरुषोत्तमो ब्रजाधिप एवोक्तः । 'क्वचित्पाण्डित्यमि'तिश्लोके निर्णीतत्वात् । सोपि नोपास्यः किन्तु भजनीयो, 'भज' सेवायामिति धातोः । उपासनायाः कर्मान्तर्गतत्वेन मन्त्रोपासनवैदिकतान्त्रिकदीक्षार्चनादिविध्यधीनत्वं भजनीयस्यायातीति विभूतिरूपं व्यावर्त्यते । भजनञ्च सेवा, सैव भक्तिपदशक्यार्थः । 'धात्वर्तः सेवा, प्रत्ययार्थः स्नेह' इति निबन्धोक्तेः । 'सा परानुरक्तिरीश्वरे' इतिभक्तिसूत्रात् । 'माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोधिकः । स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथे'ति नारदपञ्चरात्रोक्तेश्च । ज्ञानपूर्वकत्वे विहितस्नेहो भक्तिपदवाच्यः, अन्यथा त्वविहितः स्नेह इत्यन्यत्र विस्तरः । सा सेवा तनुवित्तजा कायिक्येव केवला संभूतेति मानसीत्वमपि लक्षणे निवेश्यते । 'प्रत्ययार्थः स्नेह' इत्यान्तरो धर्म उक्तः । तथैतदुक्तं सिद्धान्तमुक्तावल्यां 'चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्धयै तनुवित्तजा' इति । तथा च देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणैर्निवेदितात्मभिः संसेव्य इत्यभिप्रायतः सर्वभावेनेत्युक्तम् । सर्वो यो भावो देहेन्द्रियादीनां यथार्हं तत्तद्विनियोगात्मकस्तेन सेव्यः । सर्वात्मभावेनेति केचित् । सोप्यत्र पुष्टिमार्गीय एव । सर्वोपि आत्मनो भावो, न तु सर्वत्रात्मत्वभावनं, तस्य मर्यादामार्गीयत्वादिति विवेचनीयम् । किञ्च, स सर्वदा भजनीयः, न तु कदाचित् कर्ममार्ग इव, नैमित्तिकदेववद्वा ।

एवं वह कौन सा साकार-परमेश्वर भजनीय है? शिव, विष्णु या व्यूहात्मा, नारायण या विश्वरूपादि ब्रह्माणुविग्रह? यह आकांक्षा होने पर **ब्रजाधिप** इन शब्दों से कह रहे हैं। इससे सभी प्रकार से आए अवतारदशापन्नों में भी अर्थात् भगवदंश स्वरूप में **भजनीयः** तो श्रीकृष्ण, पुरुषोत्तम ब्रजाधिप ही कहे हैं। ''कहीं पाण्डित्य हो (स्फुरत./४)'' इस श्लोक में निर्णीत होने से। वह भी उपास्य नहीं किंतु भजनीय हैं, सेवा में 'भज्' धातु होने से। उपासना के कर्मान्तर्गत होने से मंत्रोपासन, वैदिक तांत्रिक दीक्षा, अर्चन आदि विधि-अधीन है इनमें भजनीय अर्थात् भगवान के भी आ जाने से भगवान के विभूतिरूप का निरसन कर रहे हैं। यहाँ समझें कि उपासना कर्ममार्ग के अंतर्गत है एवं कर्ममार्ग में मंत्रोपासना, वैदिकीतांत्रिकी दीक्षा आदि वस्तुएँ विधि पूर्वक करने का विधान है। अतः यदि उपासना विधि के अधीन है तो उपास्य अर्थात् भगवान भी विधि-अधीन ही होंगे। अतः कह रहे है कि विधि-अधीन रहने वाले शिव, विष्णु आदि विभूतिरुप भजनीय नहीं है अपितु पूर्णपुरुषोत्तम व्रज के अधिपति श्रीकृष्ण भजनीय हैं, यह अर्थ है।

एवं भजन सेवा है, वही 'भक्ति' पद का संभव अर्थ है। ''धातु-अर्थ 'सेवा' प्रत्यायार्थ 'स्नेह'' यह निबंध में कहा होने से। ''ईश्वर में परम-अनुराग 'भक्ति' है (शांडिल्यभक्तिसूत्र १/१/२)'' इस भक्तिसूत्र से एवं ''माहात्म्यज्ञानपूर्वक सुदृढ, सर्वतोधिक स्नेह, भक्ति है यह कहा एवं उसके द्वारा ही मुक्ति होती है अन्यथा नहीं'' यह नारदपञ्चरात्रस्मृति में कहा होने से। ज्ञानपूर्वक होने पर विहितस्नेह 'भक्ति' पदवाची होता है, अन्यथा तो अविहित स्नेह होगा यह अन्यत्र विस्तरित किया है। अर्थात् टीकाकार यह कहना चाह रहे हैं कि भगवान का माहात्म्यज्ञान होने के पश्चात् ही भगवान में उत्पन्न हुए 'स्नेह' को 'भक्ति' का नाम प्राप्त होता है। यदि भक्त को प्रभु के माहात्म्य का ज्ञान नहीं है तो वह केवल स्नेह मात्र ही है उसे भक्तिमार्ग के अंतर्गत नहीं माना जा सकता। इस अविहित स्नेह को हमारे पूर्वजों ने अन्यत्र कई स्थलों पर विस्तारित किया है, यह टीकाकार कहना चाह रहे है। वह तनुवित्तजा-सेवा केवल कायिकी ही उत्पन्न होती है, इससे मानसी के लक्षण में भी निविष्ट होती है। अर्थात् तनुवित्तजा सेवा सर्वप्रथम काया द्वारा की जाती है एवं तत्पश्चात् वह मानसीसेवा में परिणित होती है, यह अर्थ है। ''प्रत्यय का अर्थ 'स्नेह' है'' यह आंतरिक-धर्म कहा है। वैसा सिद्धांतमुक्तावली में ''चित्त की उनमें प्रवणता सेवा है, उसकी सिद्धि के लिए तनुवित्तजा है (२) ''इस वाक्य से कहा है। एवं, इस प्रकार देह-इंद्रिय-प्राण-अन्तःकरण द्वारा निवेदित आत्माओं द्वारा भगवान संसेव्य हैं, इस अभिप्राय से **सर्वभावेन** यह कहा है। देहेन्द्रियादि का सभी जो यथायोग्य भाव है जो तत्तत् विनियोगात्मक भाव है, उससे सेव्य हैं। कुछ इस भाव को सर्वात्मभाव से भी कहते हैं वह भी पुष्टिमार्गीय ही है। आत्मा का सभी भाव, न कि सर्वत्र आत्मभाव सर्वात्मभाव है उसके मर्यादामार्गीय होने से, यह विवेचनीय है। टीकाकार 'सर्वभावेन' शब्द की व्याख्या कर रहे हैं। वे कहते हैं कि आत्मा के सभी भावों से ब्रजाधिप को भजना सर्वभाव है न कि सर्वत्र आत्मीयता रखना सर्वभाव है, यह भेद जानना चाहिए। और, वह सर्वदा भजनीय हैं, न कि कभी; कर्ममार्ग अथवा नैमित्तिकदेव की भाँति। टीकाकार 'सर्वदा' शब्द का विवेचन कर रहे हैं। वे कहते हैं

कि व्रजाधिप - श्रीकृष्ण सर्वदा भजनीय हैं न कि कुछ काल के लिए। नैमित्तिकदेव उन्हें कहते हैं जिनकी स्थापना किसी निमित के लिए हुई हो। जैसे गणपति की स्थापना विवाहादि मांगलिक प्रसंग निर्विघ्न समाप्त होने के लिए, जैसे वास्तुदेव की स्थापना गृहप्रवेश के समय। किंतु तत्तत प्रसंग संपूर्ण होने के बाद ना ही भक्त इनसे कोई संबंध रखता है एवं न ये ही किसी की अपेक्षा रखते हैं। किंतु पुष्टिप्रभु के साथ ऐसा स्वार्थपूर्ण व्यवहार नहीं है। वे तो सर्वदा भजनीय हैं, यह अर्थ है।

ननु वेदादिप्रमाणग्रन्थेषु तु तदुपासनं विहितमभिहितं न त्वेतदित्यप्यविहितमेव भजनमिति चेन्न, सर्वतः पृथक्त्वेनैतत्प्रमातो व्यवस्थापितत्वात् । 'अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व मामि'तिभगवद्वाक्ये भजनविध्युपपादितत्त्वाच्च । 'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु । मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोसि मे' इत्यादिना । अत एवात्राप्यावश्यकत्वार्थकतयानुशिष्टानां तव्यत्तव्यानीयरप्रत्ययानां मध्ये अनीयरप्रत्यय उपात्तः । तथा विध्यर्थकश्च । न चैवं विध्यधीनत्वप्रसङ्गः । मर्यादातो व्यतिरेकात् पुष्टिमार्गीयत्वाच्च । अत एवोक्तमेकादशस्कन्धे भागवते भगवद्धर्मनिरूपणप्रसङ्गे 'यानास्थाय नरो राजन्न प्रमाद्येत कर्हिचित् । धावन्निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिहे'त्यादि । अयमेव धर्मः ॥ १ ॥

इति मठेशश्रीनाथभट्टकृता चतुःश्लोक्याः प्रथमश्लोकटीका समाप्ता ।

यदि यहाँ शंका करें कि वेदादि प्रमाणग्रंथों में तो उनकी उपासना विहित अर्थात् कही गई है न कि यह पुष्टिमार्गीयसेवा, इससे यह भी अविहित भजन है? टीकाकार पूर्वपक्षी की शंका उठा रहे हैं। वे कहते हैं कि उपासना आदि मर्यादामार्गीय भजनविधि तो वेद आदि ग्रंथों में कही है किंतु पुष्टिमार्गीय भजनविधि नहीं, तब क्या, पुष्टिमार्गीय भजन अप्रामाणिक न हो जायेगा? इस शंका का समाधान वे आगे दे रहे हैं। नहीं, सभी से पृथक होने के प्रमाण से व्यवस्थापित होने के कारण। अर्थात् चूँकि पुष्टिमार्गीय भजन अन्य सभी से पृथक है अतः उसका इस प्रकार पृथकतया होना ही स्वयं में प्रमाणित है, यह अर्थ है। एवं, ''क्षणभंगुर दुःखमय लोक को प्राप्त होकर मुझे ही भज (भ.गी.९/३३) इस भगवद्-वाक्य में भजनविधि उपपादित होने से। ''मन से मेरा हो जा, मेरा भक्त हो जा, मेरा यजनकर्ता हो जा, मुझे नमस्कार कर। मुझको ही प्राप्त होगा तुझसे सत्यपूर्वक प्रतिज्ञा करता हूँ कि तू मेरा प्रिय है (भ.गी.१८/६५)'' इत्यादि वाक्यों से। अतएव यहाँ भी आवश्यक अर्थतया अनुशिष्ट 'तव्यत्'-'तव्य'-'अनीयर' प्रत्ययोंके मध्य में 'अनीयर' प्रत्यय ग्रहण किया है। एवं 'विधि' अर्थ में यह प्रत्यय है एवं इस प्रकार यहाँ 'विधि के अधीन' होने का प्रसंग नहीं समझना चाहिए, मर्यादा से भिन्न एवं पुष्टिमार्गीय होने के कारण। इन प्रत्ययों को समझें। ये 'तव्यत्', 'तव्य', 'अनीयर', तीन प्रकार के प्रत्यय किसी धातु में जुड़कर उसके अर्थ को बदल देते हैं। मूल ग्रंथ में आए 'भजनीयः' शब्द में धातु 'भज्' है एवं उसमें 'अनीयर' प्रत्यय लगा है। दोनों मिला कर 'भजनीयः' शब्द बना है। टीकाकार का कहना है कि यहाँ 'तव्यत्' एवं 'तव्य' प्रत्ययों को छोड़कर 'अनीयर' प्रत्यय का ही उपयोग क्यों हुआ यह विचारणीय है। वे आगे कह रहे हैं कि चूँकि श्रीमहाप्रभु को श्रीकृष्ण के भजन करने में जो आवश्यक अर्थ वांछित था वो 'अनीयर' प्रत्यय लगाने से ही सिद्ध हो रहा था अतः वही प्रयुक्त किया, तव्यत् एवं तव्य नहीं। यहाँ यह भी देख लें कि 'भज्' धातु में ये तीनों प्रत्यय लगा कर क्या क्या विभिन्न अर्थ बनते हैं। तव्यत् + तव्य + अनीयर तीनों प्रत्यय लगाने से क्रमशः भज् + तव्यत् = भजितव्यम्, भज् + तव्य = भजितव्यः एवं भज् + अनीयर = भजनीयः यों शब्द बनेंगे। इन तीनों का अर्थ वैसे तो 'भजना चाहिए' यह ही निकलेगा किंतु इनमें 'भजनीयः शब्द आदेशात्मक है एवं श्री महाप्रभु व्रजाधिप का भजन आदेश ही करना चाह रहे हैं अतः उन्होने भजनीयः का प्रयोग किया। तदनुसार इसे श्रीमहाप्रभूपदिष्ट विधि ही मानना चाहिए।

अतएव एकादशस्कंध भागवत में भगवद्धर्मनिरूपण प्रसंग में ''इन धर्मों का अवलंबन करके मनुष्य कभी पीड़ित नहीं होता एवं नेत्र बंद करके दौड़ने पर भी न स्खलित होता है, न गिरता है (श्री.भा.११/२/३५)'' इत्यादि वाक्यों द्वारा कहा गया है। यही धर्म है॥१॥

यह, मठेशश्रीनाथभट्टकृत चतुःश्लोकी के प्रथमश्लोक की टीका समाप्त हुई।

१ तव्यत्तव्यानीयरः (३-१-९६) इतिसूत्रात । २ नाधिका लब्धा ।

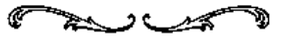
श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

चतुःश्लोकी ।

श्रीद्वारिकेशविरचितव्याख्यायुता ।



श्रीगोवर्धनधराय नमः ।

नत्वा श्रीवल्लभाचार्यान्विट्ठलेशांश्च सद्गुरुन् ।

स्वसिद्धान्तचतुःश्लोकीं विवृणोमि यथामति ॥ १ ॥

अथ श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणाः कृष्णाश्रयग्रन्थे सपरिकरस्याश्रयस्य निरूपितत्वादाश्रितान् स्वमार्गीयप्रमाणप्रमेयसाधनफलानि निर्देष्टुं तद्बोधकधर्मार्थकाममोक्षाँश्चोपदेष्टुं पूर्वश्लोके धर्मं प्रमाणं च निरूपयन्ति सर्वदेति ।

श्रीगोवर्धनधर को नमन
सद्गुरु श्रीवल्लभाचार्य एवं श्रीविट्ठलेश को नमन कर
स्वसिद्धांत चतुःश्लोकी को यथामति विवृत कर रहा हूँ ॥ १ ॥

अथ श्रीमद्वल्लभाचार्य कृष्णाश्रयग्रंथ में आश्रय को परिकर सहित निरूपित करने के द्वारा आश्रितों को स्वमार्गीय प्रमाण-प्रमेय-साधन-फल निर्देश करने के लिए एवं उनके बोधक धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष उपदिष्ट करने के लिए पूर्व श्लोक में 'धर्म' एवं 'प्रमाण' **सर्वदा** इन शब्दों से निरूपित कर रहे हैं।

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः ।

स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः क्वापि कदाचन ॥ १ ॥

सर्वदेति सर्वस्मिन्काले । सर्वभावेनेति पतिपुत्रादिभावेन । तदुक्तं 'प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मे'ति, 'सर्वेषामात्मजो ह्यात्मा पिता माता स ईश्वर' इति, 'येषां च त्वं प्रिय आत्मा सुतश्च सखा गुरुः सुहृदो दैवतञ्च' । व्रजाधिपः । व्रजस्य निःसाधनस्यानन्यस्वामिनः अधिपः स्वामी । कर्तव्यं निर्दिशन्ति भजनीय इति । कायवाङ्मनोभिरवश्यं सेवनीयः । यद्वा, सर्वेषामिन्द्रियाणां भावेन 'तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः' इतिरीतिकेन, निरोधलक्षणे वक्ष्यमाणरीतिकेन वा सेव्यः । स्वस्येति 'देवोऽसुरो मनुष्यो वे'तिवाक्यात्, 'को नु राजन्नि'तिवाक्याच्च स्वस्यात्मनो जीवमात्रस्य । स्वस्य कृष्णाश्रितजीवस्यायमेव धर्मः । तदेव भक्तिहंसे 'स्त्रियाः स्वपति भजनव'दिति । अकर्तव्यं निषेधयन्ति

ण काले श्रौतकर्तव्यस्य । 'वर्णाश्रमवतां धर्मः श्रुत्यादिषु यथोदितः तथैव विधिवत्कार्यः' बालबोधे 'स्वधर्ममनुतिष्ठन्वै भारद्वैगुण्यमन्यथा' । अत एव सर्वोत्तमेऽपि 'कर्ममार्गप्रवर्तकः' 'यागादौ भक्तिमार्गैकसाधनत्वोपदेशकः', 'यज्ञभोक्ता यज्ञकर्ते'त्यादिनामानि । तथाकृतिश्च परम्परया दृश्यते न चैवं 'सर्वदा'पदबाधः शङ्क्यः, भक्तिमार्गे साधनफलयोरैक्येन तेषामपि सेवा मध्यपातिनीति न बाधः ॥ १ ॥

सर्वदा अर्थात् सर्वकाल में । **सर्वभावेन** अर्थात् पतिपुत्रादि भाव से । वह "आप देहधारियों के प्रियतम, आत्मा हो (श्री.भा. १०/२९/३२), "सभी प्राणियों के आत्मा, पिता, माता वह ईश्वर हैं (श्री.भा. १०/४६/४२) एवं " " इन वाक्यों से कहा है। **व्रजाधिपः** इस शब्द की व्याख्या करते हैं। व्रज के अर्थात् निःसाधनों के **अधिपः** अर्थात् अनन्य स्वामी। **भजनीयः** शब्द से कर्तव्य निर्दिष्ट कर रहे हैं। काया-वाणी-मन से अवश्य सेवनीय हैं। अथवा, सभी इंद्रियों के भाव से "उनके मन, उनकी वाणी, उनकी चेष्टा कृष्णात्मिका हो गई थी (श्री.भा. १०/३०/४४) इस रीति से अथवा निरोधलक्षण में कही रीति से, सेव्य हैं। **स्वस्य** इस शब्द की व्याख्या करते हैं। "देव, असुर या मनुष्य (श्री.भा. ७/७/५०)" इस वाक्य से एवं "ऐसा कौन है राजन् ? (श्री.भा. ११/२/२/)" इस वाक्य से **स्वस्य** अर्थात् आत्मा के अर्थात् जीव मात्र के प्रभु सेव्य हैं। स्वयं का अर्थात् कृष्णाश्रित-जीव का यही धर्म है। वही भक्तिहंस में "स्त्री के

स्वपति-भजन की भाँति'' इस वाक्य की भाँति। अकर्तव्य निषेध कर रहे हैं....

ण (?) काल में श्रौतकर्तव्य का। यहाँ पर मूल टीका इतनी ही प्राप्त होती भासित होती है। इन अधूरे वाक्यों में कोई कर्ता/क्रिया अथवा पूर्वापर प्रसंग उपलब्ध न होने से हमने भी यथावत्/यावदुपलब्ध वाक्यों का अनुवाद कर दिया है। ''श्रुति-आदि में जिस प्रकार वर्णाश्रमधर्म कहे हैं उसी प्रकार विधिवत् कार्य करना चाहिए (स.नि./१८५)'', बालबोध में ''स्वधर्म से रहना चाहिए अन्यथा भारद्विगुणित होता है (१९)'' अतएव सर्वोत्तम में भी 'कर्ममार्ग के प्रवर्तक (१८)'', यागादि कर्ममार्ग में एक भक्तिमार्ग को साधनरूप से उपदेश करनेवाले (१९)'', ''यज्ञभोक्ता, यज्ञकर्ता (३०)'' इत्यादि नाम हैं। एवं वैसी कृति भी परंपरा से दिखाई देती है। एवं इस प्रकार सर्वदा से पदबाधा की शंका नहीं करनी चाहिए, भक्तिमार्ग में साधन-फल की एकता से उन वर्णाश्रम के भी सेवा-मध्यपाती होने से बाधा नहीं हैं यहाँ टीकाकार यह समझाना चाह रहे हैं, कि 'सर्वदा' पद से बाधा की शंका नहीं करनी चाहिए। 'सर्वदा' शब्द का अर्थ होता है हमेशा, सदा, निरंतर, बिना किसी व्यवधान के। किंतु जीव को तो सेवा करते हुए लौकिक वर्णाश्रमधर्म भी करने ही पड़ते हैं अतः सेवा सर्वदा तो न हो सकेगी ? यह शंका उठती है। इसका समाधान करते हुए टीकाकार कह रहे हैं, कि उपर्युक्त श्रुति एवं षोड़षग्रंथों की पंक्तियों से यह बताया गया है कि वर्णाश्रमधर्म को न त्यागते हुए सेवा में प्रवृत्त रहना चाहिए एवं चूँकि उन लौकिक वर्णाश्रमधर्मों को करने का मूल उद्देश्य भी तो आखिरकार सुखपूर्वक सेवा करना ही है अतः वे भी सेवा के ही अंग हुए अतः 'सर्वदा' पद देना अनुचित नहीं है, यह अर्थ है। और भी, हमारे संप्रदाय में साधन एवं फल की एकरूपता बताई गई है। अतः वर्णाश्रमरूपी साधनों से फलरूप भगवान सिद्ध किए जा रहे हैं तो कोई आपत्ति नहीं है ॥१॥

एवं 'सर्वदा सर्वभावेन भजनीय' इत्यनेन प्रमाणं निरूप्य 'धर्मो ही'त्यनेन धर्मं च निरूप्य प्रमेयमर्थं च निरूपयन्ति एवं सतामिति ।

एवं सतां स्म कर्तव्यं स्वयमेव करिष्यति ।
प्रभुः सर्वसमर्थो हि तेन निश्चिन्ततां व्रजेत् ॥ २ ॥

उक्तप्रकारेण भजताम् । स्मेति प्रसिद्धिः । भगवद्गीतासु 'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते । तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यह'मितिभगवद्वाक्यात् । एकादशस्कन्धे च 'यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत् । योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि, सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसे'तिभगवद्वाक्यात् । कर्तव्यं सेवोपयुपक्तपदार्थसम्पादनं स्वयमेव करिष्यति । स्वकर्तव्यमितिपाठे स्वस्य जीवस्य भगवतो वा यद्यत्कर्तव्यं तत्तद्धरिः स्वयमेव अविकृत एव अप्रार्थित एव करिष्यति, न त्वन्यद्वारा । नापि कल्पवृक्षादिवत् । स हि प्रार्थित एव करोति । अत एव दशमस्कन्धे 'व्रजस्योवाह वै हर्षं भगवान्बालचेष्टितैः' । सर्वोत्तमेऽपि 'स्वदासार्थकृताशेषसाधन' इति । मार्यादिकभक्तेषु नृसिंहमहत्तरादिषु तथाकृतमपि श्रूयते ।

इस प्रकार 'सर्वदा सभी भाव से भजनीय हैं', इस वाक्य से 'प्रमाण' निरूपित कर एवं 'धर्म निश्चित यही है' यहाँ तक 'धर्म' निरूपित कर 'प्रमेय' एवं 'अर्थ' **एवं सताम्** इन शब्दों से निरूपित कर रहे हैं।

कहे गए प्रकार से भजनेवालों को; **स्म** शब्द प्रसिद्धि-अर्थ में है, भगवद्-गीता में ''अनन्यभाव से चिंतन करते हुए मुझे जो भजते हैं उन भक्तिनिष्ठों के योगक्षेम का मैं निरंतर वहन करता हूँ (भ.गी. ९/२२)'' एवं एकादश-स्कंध में ''कर्म, तपस्या, ज्ञान, वैराग्य, योग, दान, धर्म आदि से भी जो कुछ प्राप्त होता है, वह सभी मेरे भक्तियोग द्वारा मेरा भक्त प्राप्त कर लेता है (श्री.भा. ११/२०/३२,३३) इस भगवद्-वाक्य से निश्चिंत हो जाना चाहिए। **कर्तव्यं** अर्थात् सेवा में उपयुक्त पदार्थ का संपादन स्वयं ही करेंगे। **स्वकर्तव्यं** इस पाठ में स्वयं जीव का अथवा भगवान का जो-जो कर्तव्य है, वह-वह हरि स्वयं ही, विकाररहित ही, प्रार्थना किए बिना ही करेंगे न कि दूसरे किसी माध्यम के द्वारा। कल्पवृक्ष की भाँति भी नहीं। निश्चयतया वह भी प्रार्थना करने पर ही करता है। अतएव दशमस्कंध में ''बालचेष्टाओं से व्रजवासियों को भगवान हर्षित करते (श्री.भा. १०/११/९)'' सर्वोत्तम में भी ''निजसेवकों के लिए समस्त साधन करनेवाले (२१)'' यह कहा है। मर्यादाभक्तों नृसिंहमहत्तर (नृसिंहपुराण) आदि में भी वैसा किया गया सुनाई देता है।

ननु भगवान् केन प्रकारेण करोतीत्याशङ्कायामाह प्रभुरिति । प्रकर्षेण भवतीति । भगवदीयाभिलषितशय्यासिंहासनादिरूपो भवति । यथा मैथिलश्रुतदेवयोर्गृहयोर्कृष्यादिवाहनादिसर्वरूपो भूत्वा विवेश । तदुक्तं 'उभयोराविशद्देहमुभाभ्यां तदलक्षित' इति । यथा च षोडशसहस्रनायिकाविवाहे श्रीवसुदेवादिवीरयात्रिकसर्ववस्तुरूपो भूत्वा सर्वत्र विवाहं कृतवान् । तदुक्तं 'अथो मुहूर्त एकस्मिन्नानागारेषु ताः स्त्रियः । अथोपयेमे भगवांस्तावद्रूपधरोऽव्यय' इति । ननु सर्ववेदप्रतिपाद्यो भगवानुच्चावचभावं कथं भजते इत्यत आहुः सर्वसमर्थ इति । सर्वं कर्तुं समर्थः । अथवा । सर्वेषूच्चावचभावेषु समस्तुल्योऽर्थो यस्य । 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मेति'श्रुत्या वस्तुतः सर्वस्य भगवत्त्वात् । तथा चोक्तमष्टमस्कन्धे 'उच्चावचेषु भूतेषु चरन्वायुरिवेश्वरः । नोच्चावचत्वं भजते निर्गुणत्वाद्धियो गुणैः' । हि युक्तोऽयमर्थः । एतेन

सिद्धमाहुः तेनेति । भगवतैव संपादितेनार्थेन निश्चिन्ततां भगवदेकतानतां व्रजेत् । निश्चिन्तो भूत्वा सेवां कुर्यात् । अत एव भक्तिवर्द्धिन्यां 'अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः' । नवरत्नप्रकाशेऽपि 'भगवदर्थापि सा न कार्या' । विवेकधैर्याश्रयेऽपि 'प्राप्तं सेवेत निर्ममः' । गदाधरदासीनां तथाकृतिश्च श्रूयते । एवं प्रभुपदेनार्थं सर्वसमर्थपदेन प्रमेयं च निरूप्य 'भक्तियोगस्य तत्सर्वमन्तरायतयार्भक' इत्युपक्रम्य, 'यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक् । आशासानो न वै भृत्यः स्वामिन्याशिष आत्मनः । न स्वामी भृत्यतः स्वाम्यमिच्छन्यो राति चाशिष'इत्युक्तत्वात् ॥ २ ॥

यहाँ शंका करते हैं कि ''भगवान किस प्रकार करते हैं ?'' इस शंका में **प्रभु** इस शब्द से कह रहे हैं। यहाँ से टीकाकार 'प्रभु' शब्द का अर्थ कर रहे हैं। प्रभु सर्वत्र प्रकर्ष रूप से होते है। भगवदीयों के अभिलषित शय्यासिंहासनादिरूप होते हैं। जैसे मैथिल-श्रुतदेव के गृह में ऋषि-आदि वाहनादि सर्वरूप होकर प्रविष्ट हुए। वह ''उनकी अनभिज्ञता द्वारा दोनों के घर पधारे (श्री.भा. १०/८६/२६)'' इस वाक्य से कहा है। एवं जैसे, सोलह हजार नायिकाओं से विवाह में श्रीवसुदेवादि वीर-यात्रिकों आदि समस्त वस्तुरूप होकर सर्वत्र विवाह किया। वह ''पश्चात् अविनाशी भगवान ने एक ही मुहूर्त में अलग-अलग भवनों में उन स्त्रियों से विवाह किया (श्री.भा. १०/५९/४२)'' इस वाक्य से कहा है। यहाँ शंका करते हैं कि सर्ववेद में प्रतिपादित भगवान उच्च-नीच भाव से कैसे भजते हैं? यह **सर्वसमर्थ** इन शब्दों द्वारा कह रहे हैं। सब करने में समर्थ हैं। अथवा। सभी उच्च-नीच भाव में सम अर्थात् तुल्य अर्थ जिसका है, वह सर्वभाव है ''सभी कुछ ब्रह्म है (छा.३/१४/१) इस श्रुति द्वारा वस्तुतः सब कुछ भगवद्मय होने से। एवं वह अष्टमस्कंध में ''भगवान वायु की भाँति उच्च-नीच सभी प्राणियों में लीला करते हैं, परंतु निर्गुण होने से उनके बुद्धिगत गुणों से वे उच्च-नीच नहीं हो जाते (श्री.भा. ८/२४/६)'' इस वाक्य से कहा है। 'हि' शब्द इस अर्थ की युक्तता बता रहा है। इससे सिद्ध हुए को **तेन** इन शब्दों से कह रहे हैं। भगवान द्वारा ही अर्थ संपादित होने से **निश्चिंतता** अर्थात् भगवद्-एकनिष्ट हो जाना चाहिए। निश्चिंत होकर सेवा करनी चाहिए। अतएव 'भक्तिवर्धिनी' में ''अव्यावृत्त होकर कृष्ण को पूजा-श्रवणादि द्वारा भजना चाहिए (२) 'नवरत्नप्रकाश' में भी ''भगवान के लिए भी वह चिंता नहीं करनी चाहिए (नव./१/प्रभुचरणकृत प्रकाशटीका) विवेकधैर्याश्रय में भी ''प्राप्त को ममतारहित होकर सेवन करना चाहिए (१५)'' यह कहा है। एवं गदाधर एवं दासी की वैसी कृति भी सुनी जाती है। टीकाकार यहाँ नवरत्नप्रकाश एवं विवेकधैर्याश्रय की पंक्तियों को समझाने के लिए २५२/८४ वैष्णवों की वार्ता के अंतर्गत श्री गदाधरदास एवं दासी की वार्ता का उदाहरण दे रहे हैं। विशेष जानने के लिए वार्ता में देखें। इस प्रकार प्रभु पद से 'अर्थ' एवं सर्वसमर्थ पद से प्रमेय निरूपित कर ''वरदान माँगना भक्तियोग का विघ्न है (श्री.भा. ७/१०/१)'' यहाँ उपक्रमित कर ''जो आपसे मनोरथों की आशा रखता है वह सेवक नहीं बनिया है। जो स्वामी से कामनाओं की पूर्ति चाहता है, वह सेवक नहीं एवं जो उसका स्वामी बनने के लिए उसकी कामनाएँ पूर्ण करता है, वह स्वामी नहीं (श्री.भा. ७/१०/४,५)'' यह कहा होने से ॥ २ ॥

एवं तु भगवतार्थसंपादने कृते भक्तिमार्गान्तरायः, स्वयं कृते सेवाऽनिर्वाह इति प्राप्तेः भक्तिमार्गीयं साधनं निरूपयन्तो हरेर्दिदृक्षारूपं कामं निरूपयन्ति यदि श्रीगोकुलाधीश इति ।

यदि श्रीगोकुलाधीशो धृतः सर्वात्मना हृदि ।
ततः किमपरं ब्रूहि लौकिकैर्वैदिकैरपि ॥ ३ ॥

एतेन दुर्लभतोच्यते । अत एव दिदृक्षा । श्रिया युक्तो गोकुलाधीश, एतेन कामसम्पत्तिर्निरूपिता । 'कामः स्त्रीषु प्रतिष्ठित' इतिवाक्यात् । 'कौण्डिन्यो गोपिकाः प्रोक्ता गुरवः साधनं च तदि'तिवाक्यात् साधनसंपत्तिर्निरूपिता । तयोः स्वस्मिन्समावेशमाहुः धृतः सर्वात्मना हृदि । 'एकादशेन्द्रियैः काम' इतिवाक्यात् । अत्राऽऽत्मपदं इन्द्रियपरम् । सर्वपदं एकादशपरम् । सर्वेन्द्रियैः कामसाधनसंयुक्तो गोकुलाधीशो हृदि धृतो हृदये कृतस्तदा लौकिकफलस्य स्वाधीनपतित्वस्य वैदिकफलस्य चित्तशुद्धेश्च 'हृदि स्थितो यच्छति भक्तिपूत' इतिवचनादासत्वेन लौकिकैरुद्यमादिभिः वैदिकैर्यज्ञादिभिरपि किं? नास्ति परमुत्कृष्टं, यस्मादेतादृशमत्युत्कृष्टमस्ति चेद्ब्रूहि ॥ ३ ॥

इस प्रकार तो भगवान के द्वारा अर्थ-संपादन करने पर भक्तिमार्ग में विघ्न होता है एवं स्वयं करने पर सेवा का अनिर्वाह होने के कारण दोनों ही प्रकार से करने में जीव को कठिनाई होती है अतः इसका निवारण करने के लिए भक्तिमार्गीय साधन निरूपित करते हुए हरि दिदृक्षारूप काम **यदि श्रीगोकुलाधीश** इन शब्दों से निरूपित कर रहे हैं। टीकाकार कह रहे है कि, यहाँ शंका यह उपस्थित होती है कि जीव को दोनों ही प्रकार से कठिनाई है। यदि वह द्रव्यार्जन के लिए प्रभु को श्रम दे तो उपर्युक्त श्रीमद्-भागवत की पंक्तियों द्वारा सच्चा सेवक सिद्ध नहीं होगा क्योंकि सच्चा सेवक तो वही है जो स्वार्थ के लिए प्रभु को श्रम न दे। अतः यह पुष्टिमार्ग में विघ्न होगा। दूसरी तरफ यदि धनार्जन के लिए वह स्वयं उधम करने लग जाय तो वह भलीभाँति सेवा का निर्वाह नही कर पायेगा। इसका समाधान वे

आगे दे रहे हैं। इससे दुर्लभता कह रहे हैं। अतएव दिदृक्षा होती है। 'श्री से युक्त गोकुलाधीश' यह कहने से कामसम्पत्ति निरुपित की है। 'काम, स्त्री में प्रतिष्ठित है' इस वाक्य से। ''कौण्डिन्य ऋषि एवं गोपीजन गुरु हैं, उनके किए ही साधन हैं (स.नि./८)'' इस वाक्य से साधनसंपत्ति निरूपित की है। इन श्री एवं गोकुलाधीश दोनों को स्वयं में समाविष्ट करने के लिए **धृतः सर्वात्मना हृदि** इन शब्दों से कह रहे हैं। ''एकादश इंद्रियों द्वारा काम (त.दी.नि.३/४/११३) इस वाक्य से। यहाँ 'आत्म' पद इन्द्रियपरक है। 'सर्व' पद संख्या 'ग्यारह' का वाचक है। सभी इंद्रियों द्वारा कामसाधन से संयुक्त **गोकुलाधीशो हृदि धृतो** अर्थात् यदि श्रीगोकुलाधीश हृदगत किए हैं, तब लौकिक फ़ल अर्थात् स्वयं के अधीन पति एवं वैदिक फल अर्थात् चित्तशुद्धि द्वारा ''पुरुष के भक्तिपूत हृदय में स्थित होकर (श्री.भा. ३/५/४)'' इस प्रामाणिक वचन से **लौकिकैः** अर्थात् उद्यम आदि से **वैदिकैः** अर्थात् यज्ञादि से भी क्या ? नहीं है परम-उत्कृष्ट, यदि ऐसा अति-उत्कृष्ट हो, तो कहो ॥ ३ ॥

एवं श्रीपदेन कामं साधनं च निरूप्य भगवदीयत्वरूपं मोक्षं स्मरणसेवारूपं फलं निरूपयन्ति-अत इति ।

अतः सर्वात्मना शश्वद्गोकुलेश्वरपादयोः ।
स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यमिति मे मतिः ॥ ४ ॥

यतो हृदये श्रीगोकुलाधीशधारणादन्यसाधनं नास्ति, अतः परं सर्वात्मना देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणैः शश्वन्निरन्तरं, गवां कुलस्य, गवां बन्धूनां गोपगोपीनां, गोकुलग्रामस्य वा ईश्वरस्य नियामकस्य पादयोर्भगवदीयदेहसंपादकयोः स्मरणमाध्यानं भजनं सेवनं, चकारेण श्रवणं कीर्तनं च, न त्याज्यम् । सादरं सर्वथा विधेयम् । अपिः संभावनायाम् । त्यागसंभावनैव नास्ति । एवं भगवदीयत्वरूपमोक्षं सेवारूपफलं चेति । स्वयं स्वाभिप्रामाण्येन ग्रन्थं समापयन्ति-इति मे मतिरिति । मे श्रीकृष्णवल्लभस्य इति एवं प्रकारिका मतिः ॥ ४ ॥

एवं भगवदीयानां धर्मार्थेच्छामृतप्रदा ।
व्याख्यातेयं चतुःश्लोकी प्रमाणादिप्रदर्शिका ॥ १ ॥
तेन श्रीवल्लभाचार्याः स्वदासे मयि वंशजे ।
प्रसीदन्तु स्वकृपया सान्वयाः सहसेवकाः ॥ २ ॥
इति श्रीवल्लभाचार्यचरणैकतानश्रीमथुरानाथात्मजद्वारिकेशविरचिता
चतुःश्लोकीव्याख्यान्वयबोधिनी
समाप्ता ।

इस प्रकार 'श्री' पद से काम एवं साधन निरूपित कर भगवदीयत्व रूपी 'मोक्ष' अर्थात् स्मरणसेवारूप 'फल' **अतः** इन शब्दों से निरूपित कर रहे हैं।

क्योंकि हृदय में श्रीगोकुलाधीश को धारण करने से अन्य दूसरा कोई साधन नहीं है **अतः सर्वात्मना** अर्थात् देह-इंद्रिय-प्राण-अन्तःकरण द्वारा **शश्वत्** अर्थात् निरंतर, गायों के कुल के अथवा गौबंधुओं के अथवा गोपगोपियों के अथवा गोकुलग्राम के अथवा ईश्वर के अथवा नियामक के **पादयोः** अर्थात् भगवदीयदेह के संपादक चरणों का **स्मरणं** अर्थात् भलीभाँति ज्ञान **भजनं** अर्थात् सेवन, 'च' शब्द से श्रवण एवं कीर्तन भी त्याज्य नहीं है। सर्वथा आदरसहित करने चाहिए। **अपि** शब्द संभावना के अर्थ में है। त्याग की संभावना ही नहीं है। इस प्रकार भगवदीयत्वरूप मोक्ष एवं सेवारूप फल कहे हैं। स्वयं अपने अभिप्रमाण से **इति मे मतिः** इन शब्दों से ग्रंथ समापन कर रहे हैं। **मे** अर्थात् श्रीकृष्णवल्लभ की **इति** अर्थात् इस प्रकारक मति है ॥ ४ ॥

इस प्रकार, भगवदीयों की प्रमाण आदि की प्रदर्शिका, धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष प्रदायिका यह चतुःश्लोकी व्याख्यायित की ॥ १ ॥

इससे श्रीवल्लभाचार्य स्वकृपा द्वारा, परिवारसहित, सेवकसहित स्ववंशज-मुझ दास पर प्रसन्न हों ॥ २ ॥

यह श्रीवल्लभाचार्यचरणों में एकनिष्ठ श्रीमथुरानाथात्मज ''द्वारकेश' विरचित चतुःश्लोकी की व्याख्या-अन्वय बोधिनी (विवृति) समाप्त हुई।